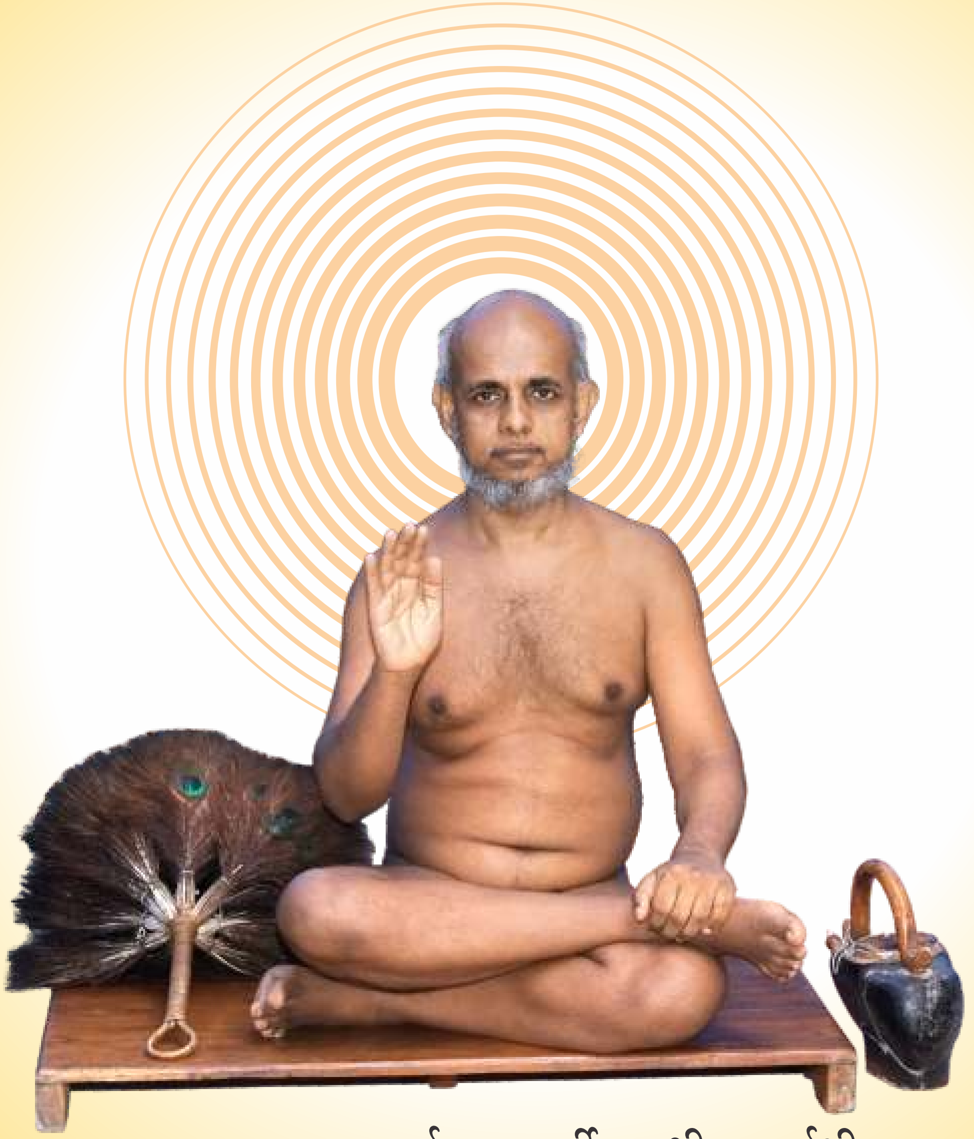

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

तत्त्वानुशासनादि संग्रह

संशोधक

मनोहरलाल जी शास्त्री

प्रकाशक

श्री माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति

मुम्बई (महाराष्ट्र)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

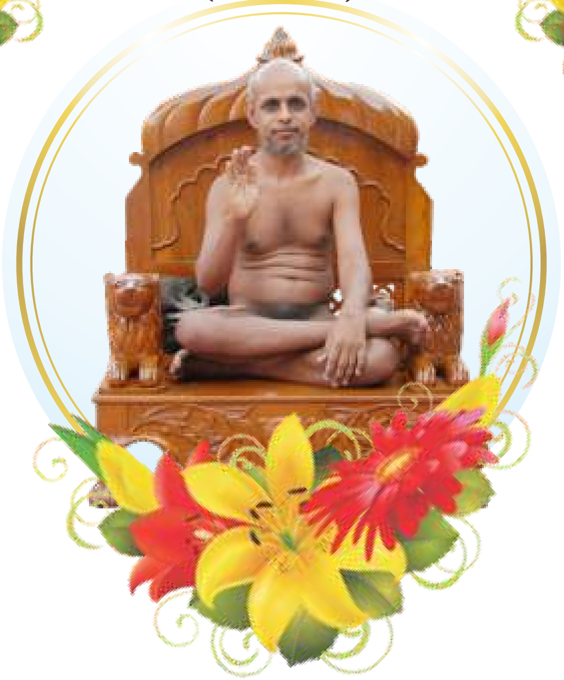

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

माणिकचन्द-दिगम्बर-जैन-
ग्रन्थमाला ।

१३

तत्त्वानुशासनादिसंग्रहः ।

माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थ-माला, त्रयोदशो ग्रन्थः ।

नमः श्रीवीतरागाय ।

तत्त्वानुशासनादिसंग्रहः ।

संशोधकः—

पण्डितमनोहरलालशास्त्री ।

प्रकाशिका—

श्रीमाणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थमाला-समितिः ।

भाद्र, वीर नि० २४४४ ।

विक्रमाब्दः १९७५ ।

प्रथमावृत्तिः । [मूल्यं चतुर्दशाणकाः ।

Printed by Chintaman Sakharam Deole, at the Bombay
Vaibhav Press, Servants of India Society's Home,
Sandhurst Road, Girgaum, Bombay

Published by Nathuram Premi, Honorary Secretary
Manikchanda Degamber-Jain-grantha Mala,
Hirabagh, Bombay.

ग्रन्थ-सूची ।

१	तत्त्वानुशासनं	१
२	इष्टोपदेशः वृत्तिसहितः	२४
३	नीतिसारः	५८
४	मोक्षपंचाशिका	७०
५	श्रुतावतारः	७४
६	अध्यात्मतरंगिणी टिप्पणीसमेता	९०
७	पात्रकेसरिस्तोत्रं सटीकं	१००
८	अध्यात्माष्टकम्	१३१
९	द्वात्रिंशतिका	१३२
१०	वैराग्यमणिमाला	१३८
११	तत्त्वसारः (प्राकृतं)	१४५
१२	श्रुतस्कन्धः (प्राकृतं)	१५२
१३	ढाढसी-गाथा संस्कृतच्छायोपेता	१६१
१४	ज्ञानसारः संस्कृतच्छायासहितः	१६७

माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला।

इस ग्रन्थमालामें अबतक नीचे लिखे हुए ग्रन्थ छप चुके हैं:—

१ **लघीयस्त्रयादिसंग्रह**। भट्टाकलंककृत लघीयस्त्रय सटीक, और अनन्तकीर्तिकृत बृहत्सर्वज्ञसिद्धि तथा लघु सर्वज्ञसिद्धि। मू० ।≈)

२ **सागारधर्मामृत**। पं० आशाधरकृत मूल और स्वोपज्ञ भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकासहित। मू० ।≋)

३ **विक्रान्तकौरवीय नाटक**। हस्तिमल्लकृत। मू० ।=)

४ **पार्श्वनाथचरित**। वादिराजसूरिकृत। मू० ॥)

५ **मैथिलीकल्याण नाटक**। हस्तिमल्लकृत। मू० ।)

६ **आराधनासार**। देवसेनकृत मूल प्राकृत और रत्नकीर्तिदेवकृत संस्कृत-टीकासहित। मू० ।)॥

७ **जिनदत्तचरित**। आचार्य गुणभद्रकृत। मू० ।)॥

८ **प्रद्युम्नचरित्र**। कविवर महासेनकृत। मू० ॥)

९ **चारित्रसार**। मंत्रिवर चामुण्डरायकृत। मू० ।=)

१० **प्रमाणनिर्णय**। वादिराजसूरिकृत। मू० ।-)

११ **आचारसार**। वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीकृत ।=)

१२ **त्रिलोकसार**। आचार्य नेमिचन्द्रकृत मूल प्राकृत और आचार्य माधवचन्द्रकृत संस्कृतटीका। मू० १॥)

१३ **तत्त्वानुशासनादिसंग्रह**। मू० ॥।=)

१४ **अनगारधर्मामृत**। पं० आशाधरकृत मूल और संस्कृतटीकासहित। छप रहा है।

नोट—इस ग्रंथमालाके तमाम ग्रन्थ लागतके मूल्यपर बेचे जाते हैं। स्वर्गीय दानवीर सेठ माणिकचन्द्रजीके स्मारकमें यह ग्रन्थमाला निकाली जाती है। प्रत्येक धर्मात्माको इसकी सहायता करनी चाहिए। प्रायः सभी जैन-बुकसेलरोंके यहांसे ये ग्रन्थ मिलेंगे।

संग्रहके ग्रन्थों और ग्रन्थकर्ताओंका
संक्षिप्त परिचय ।

१ तत्त्वानुशासन । इस ग्रन्थके कर्ता आचार्य नागसेन हैं । ग्रन्थके अन्तमें वे अपने दीक्षा-गुरुका नाम **विजयदेव** और विद्या-गुरुओंका नाम **वीरचन्द्रदेव**, **शुभचन्द्रदेव** तथा **महेन्द्रदेव** बतलाते हैं । अपने संघ या गणगच्छादिके विषयमें वे मौन हैं । अपने समयका भी वे उल्लेख नहीं करते हैं । परन्तु ऐसा मालूम होता है कि वे विक्रमकी १३ वीं शताब्दिसे पहले हुए हैं । क्योंकि पण्डितवर आशाधर 'इष्टोपदेशटीका'में–जो इसी संग्रहमें प्रकाशित की गई है--इस ग्रन्थके अनेक श्लोक 'उक्तं च' रूपमें उद्धृत करते हैं । उदाहरणके लिए इस संग्रहके पृष्ठ २७ में 'गुरूपदेशमासाद्य' आदि दो श्लोकोंको देखिए । ये तत्त्वानुशासनके १९६ और १९७ नम्बरके श्लोक हैं । और पं० आशाधरजीने-जैसा कि आगे बतलाया गया है–विक्रम संवत् १२८५ के पहले इष्टोपदेशकी टीका लिखी है । अतः तत्त्वानुशासनके कर्ता इससे भी पहले हुए हैं । नागसेनके अन्य किसी ग्रन्थसे हम परिचित नहीं ।

तत्त्वानुशासन उच्चकोटिका और महत्त्वका ग्रन्थ है । मालूम नहीं, इसका यथेष्ट प्रचार क्यों नहीं हुआ । बम्बईके दिगम्बरजैनमन्दिरके पुस्तकालयमें एक बहुत ही जीर्ण प्राचीन गुटका है । उसी परसे इस ग्रन्थकी प्रेसकापी कराई गई है । दूसरी प्रति कहीं प्राप्त न हो सकी, अतएव उक्त एक ही प्रतिके आधारसे इसका संशोधन कराया गया है ।

२ इष्टोपदेश । इस छोटेसे पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके कर्ता आचार्य **देवनन्दि** या **पूज्यपाद** हैं । श्रीयुक्त पं० काशीनाथ बापूजी पाठक बी. ए. ने एक कनड़ी ग्रन्थके आधारसे प्रकट किया है कि गंगवंशीय दुर्विनीत नामका राजा पूज्यपादका शिष्य था और इस राजाने वि० सं० ५३५ से ५७० तक राज्य किया है । इसके सिवाय देवसेनसूरिने अपने 'दर्शनसार' नामक प्राकृतग्रन्थमें—जो वि० सं० ९९० में रचा गया है—लिखा है कि पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिने वि० सं० ५२६ में द्राविडसंघकी स्थापना की थी । इन दोनों प्रमाणोंसे मालूम होता है कि देवनन्दि आचार्य विक्रमकी छट्ठी शताब्दिमें हो गये हैं । उनके बनाये हुए सर्वार्थसिद्धिटीका, जैनेन्द्रव्याकरण और समाधितंत्र ये तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं ।

इष्टोपदेशकी टीकाके कर्ता पण्डितवर आशाधर हैं। उन्होंने अनगार-धर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका वि० सं १३०० में समाप्त की थी, और यही शायद उनका अन्तिम ग्रन्थ था। अतः वे विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके विद्वान् हैं। उनके बनाये हुए बीसों ग्रन्थ हैं और उनमेंसे बहुतसे उपलब्ध भी हैं। वे अपने 'जिनयज्ञकल्प' नामक ग्रन्थमें जो वि० सं० १२८५ में बनकर समाप्त हुआ है—अपने उस समय तकके बनाये हुए जिन जिन ग्रन्थोंका उल्लेख करते हैं, उनमें इष्टोपदेश टीकाका भी नाम है। इससे मालूम होता है कि यह टीका १२८५ से पहले बनी है। यह टीका उन्होंने सागरचन्द्र मुनिके शिष्य विनयचन्द्रकी प्रेरणासे बनाई थी, ऐसा टीकाके अन्तिम श्लोकोंसे मालूम होता है। *

श्रीयुत प० पन्नालालजी बाकलीवालने जयपुरके किसी पुस्तकालयकी प्राचीन प्रतिसे इस ग्रन्थकी प्रेसकापी की थी। उसी परसे यह ग्रन्थ छपाया गया है।

३ नीतिसार और ४ श्रुतावतार। दिगम्बरजैनसम्प्रदायमें इन्द्रनन्दि नामके अनेक आचार्य और भट्टारक हो गये हैं। उनमेंसे एक इन्द्रनन्दि श्रुतावतारके और एक नीतिसारके कर्ता हैं। दोनोंके कर्ता एक नहीं मालूम होते। हमारी समझमें श्रुतावतारके कर्ता तो वे इन्द्रनन्दि हैं, जिनका उल्लेख आचार्य नेमिचन्द्रने गोम्मटसार कर्म-काण्डकी ३९६ वीं गाथामें गुरुरूपसे किया है:—

वरइंदनंदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं।
सिरिकणयनंदिगुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्दिट्ठं॥ ३९६॥

लेखान्तरोंमें यह सिद्ध किया जा चुका है कि नेमिचन्द्रका समय विक्रमकी ११ वीं शताब्दि है। अतः श्रुतावतारके कर्ता लगभग इसी समयके आचार्य हैं। नीतिसारके कर्ता दूसरे इन्द्रनन्दि जान पड़ते हैं, जो नेमिचन्द्रसे पीछे हुए हैं; क्योंकि वे नीतिसारके ७० वें श्लोकमें आचार्य नेमिचन्द्रका उल्लेख करते हैं। नीतिसारकी रचनासे और मुनिधर्मसम्बन्धी उपदेशोंसे भी मालूम होता है कि वह ग्यारहवीं ही नहीं बल्कि १२ वीं शताब्दिके भी बादका बना हुआ ग्रन्थ होगा।

नीतिसारका संशोधन जयपुरकी एक प्रतिसे और एक कनड़ीमें छपी हुई पुस्तकपरसे कराया गया है। श्रुतावतार शोलापुरकी जैन-बुकडिपो द्वारा प्रकाशित मराठीटीकायुक्त पुस्तकपरसे छपाया गया है।

---

* पण्डित आशाधरके विषयमें विशेष जाननेके लिए हमारी लिखी हुई 'विद्वद्रत्नमाला' के द्वितीय लेखको पढ़िए।

५ मोक्षपंचाशिका। इसके कर्ताका नाम मालूम नहीं हुआ। श्रीयुत बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तारके पास इसकी प्रति थी, उसी परसे यह छपाई गई है।

६ अध्यात्मतरंगिणी। सोमदेव नामके कई आचार्य हो गये हैं। मालूम नहीं उनमेंसे यह किस सोमदेवकी बनाई हुई है। यदि यशस्तिलकके कर्त्ता ही इसके कर्त्ता हों, तो उनका समय विक्रमकी ११ वीं शताब्दि है। उन्होंने अपना यशस्तिलक शक संवत् ८८१ में बनाकर समाप्त किया है। इसकी एक प्रति हमें पं० इन्द्रलालजी साहित्यशास्त्रीके द्वारा जयपुरके किसी प्राचीन पुस्तकालयसे प्राप्त हुई थी। उसी परसे इसका सम्पादन हुआ है।

७ पात्रकेसरि-स्तोत्र। इसका वास्तविक नाम बृहत्पञ्चनमस्कार स्तोत्र मालूम होता है। इसके कर्ता आचार्य पात्रकेसरी हैं, इस कारण इसे 'पात्रकेसरिस्तोत्र' भी कहते हैं। विद्यानन्दि और पात्रकेसरी एक ही हैं, यह हम अपने 'स्याद्वादविद्यापति विद्यानन्दि' नामक लेखमें (जैनहितैषी वर्ष ९ अंक ९) अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं। विद्यानन्दि विक्रमकी ९ वीं शताब्दिमें हुए हैं, यह भी उक्त लेखमें प्रमाणित किया जा चुका है।

इस ग्रन्थके साथ एक टीका भी प्रकाशित की जाती है; परन्तु टीकाकर्ता अपना नाम प्रकट नहीं करते हैं।

स्वर्गीय दानवीर सेठ माणिकचन्दजीके पुस्तक-भाण्डारमें इसकी एक बहुत जीर्ण और प्राचीन प्रति थी, उसी परसे यह स्तोत्र छपाया गया है।

यह स्तोत्र केवल स्तोत्र ही नहीं, किन्तु एक अपूर्व दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें जैनधर्मकी अनेक बातों पर एक विलक्षण ही प्रकाश डाला गया है।

८ अध्यात्माष्टक। इसके कर्ता वे ही वादिराजसूरि जान पड़ते हैं जिन्होंने शक संवत् ९४७ में पार्श्वनाथचरित नामक ग्रन्थ बनाया है और जो इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुका है।

९ द्वात्रिंशतिका। इसके कर्ता अमितगतिसूरि हैं और वे शायद सुभाषित-रत्नसन्दोह, धर्मपरीक्षा, अमितिगतिश्रावकाचार आदि ग्रन्थोंके कर्ता प्रसिद्ध अमितिगतिसे पृथक् नहीं हैं। सुभाषित-रत्नसन्दोह वि० सं० १०७० में समाप्त हुआ है, अतएव उनका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दि निश्चित है। (विशेष जाननेके लिए देखो विद्वद्रत्नमालाका तीसरा लेख।)

१० वैराग्य-मणिमाला । यह श्रुतसागरसूरिके शिष्य श्रीचन्द्रकी रची हुई है। श्रुतसागर विद्यानन्दिभट्टारकके शिष्य थे । उनका समय विक्रमकी १६ वीं शताब्दि है । श्रीचन्द्रका बनाया हुआ और कोई ग्रन्थ देखनेमें नहीं आया पं० गणेशचन्द्रजी गोधाने जयपुरकी किसी प्रतिपरसे इसकी कापी प्रेस तैयार करके भेजनेकी कृपा की थी ।

११ तत्त्वसार । इस प्राकृत ग्रन्थके कर्त्ता देवसेनसूरि हैं और ये संभवतः वे ही हैं जिनके बनाये हुए दर्शनसार और आराधनासार ये दो प्राकृत ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । दर्शनसारकी रचनाका समय विक्रम संवत् ९९० है । श्रीयुक्त बाबू जुगलकिशोरजीकी लिखी हुई कापीपरसे यह ग्रन्थ मुद्रित कराया गया है ।

१२ श्रुतस्कन्ध । इसके कर्त्ता ब्रह्मचारी हेमचन्द्र हैं । उन्होंने तैलंग देशके कुण्डनगरके उद्यानके चन्द्रप्रभजिनालयमें रहते हुए इसकी रचना की थी । वे रामनन्दि सैद्धान्तिकके शिष्य थे । उनके विषयमें इससे अधिक कुछ भी मालूम नहीं हुआ । श्रीयुक्त पं० पन्नालालजी बाकलीवालने ७-८ वर्ष पहले मेरे लिए जयपुरके किसी पुस्तकालयकी प्राचीन प्रतिपरसे इसकी एक प्रेस कापी करके भेजने की कृपा की थी, उसी परसे यह ग्रन्थ छपाया गया है ।

१३ ढाढसी गाथा । इसके कर्त्ता कोई काष्ठासंघी आचार्य हैं । सोलहवीं शताब्दिके श्रुतसागरसूरिने षट्पाहुड़की टीकामें इसकी एक गाथा उद्धृत की है । पं० इन्द्रलालजीके द्वारा जयपुरके भण्डारसे इसकी प्रति प्राप्ति हुई, और उसी परसे यह छपाई गई ।

१४ ज्ञानसार । यह ग्रन्थ पद्मसिंहमुनिकृत है । इसे उन्होंने वि० सं० १०८६ में अंबक नामके नगरमें रचा था । इसके सिवाय इनके विषयमें और कुछ भी मालूम नहीं । पं० गणेशचन्द्रजी गोधाके द्वारा हमें इसकी एक प्रति प्राप्त हुई थी ।

ढाढसी गाथा और ज्ञानसारकी संस्कृतच्छाया पं० मनोहरलालजीद्वारा कराई गई है ।

इस संग्रहके ग्रन्थोंके प्राप्त करनेमें और संशोधनादि करनेमें जिन जिन सज्जनोंसे सहायता प्राप्त हुई है, उनके हम बहुत ही कृतज्ञ हैं ।

निवेदक—

नाथूराम प्रेमी

तत्त्वानुशासनादि-संग्रहः ।

श्रीमन्नागसेनमुनिविरचितं

तत्त्वानुशासनम् ।

सिद्धस्वार्थानशेषार्थस्वरूपस्योपदेशकान् ।
परापरगुरून्नत्वा वक्ष्ये तत्त्वानुशासनं ॥ १ ॥
अस्ति वास्तवसर्वज्ञः सर्वगीर्वाणवंदितः ।
घातिकर्मक्षयोद्भूतस्पष्टानंतचतुष्टयः ॥ २ ॥
तापत्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशर्मणे ।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाभ्यधादसौ ॥ ३ ॥
बंधो निबंधनं चास्य हेयमित्युपदर्शितं ।
हेयं स्याद्दुःखसुखयोर्यस्माद्बीजमिदं द्वयं ॥ ४ ॥
मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतं ।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥ ५ ॥
तत्र बंधः सहेतुभ्यो यः संश्लेषः परस्परं ।
जीवकर्मप्रदेशानां स प्रसिद्धश्चतुर्विधः ॥ ६ ॥

बंधस्य कार्यः संसारः सर्वदुःखप्रदोंगिनां ।
द्रव्यक्षेत्रादिभेदेन स चानेकविधः स्मृतः ॥ ७ ॥
स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः ।
बंधस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥ ८ ॥
अन्यथावस्थितेष्वर्थेष्वन्यथैव रुचिर्नृणां ।
दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते ॥ ९ ॥
ज्ञानावृत्युदयादर्थेष्वन्यथाधिगमो भ्रमः ।
अज्ञानं संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिह त्रिधा ॥ १० ॥
वृत्तिमोहोदयाज्जन्तोः कषायवशवर्त्तिनः ।
योगप्रवृत्तिरशुभा मिथ्याचारित्रमूचिरे ॥ ११ ॥
बंधहेतुषु सर्वेषु मोहश्च प्राक् प्रकीर्तितः ।
मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रियत् ॥ १२ ॥
ममाहंकारनामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ ।
यदायत्तः सुदुर्भेद्यो मोहव्यूहः प्रवर्त्तते ॥ १३ ॥
शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु ।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥ १४ ॥
ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः ।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥ १५ ॥
मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहंकारसंभवः ।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु जायते ॥ १६ ॥
ताभ्यां पुनः कषायाः स्युर्नो कषायाश्च तन्मयाः ।
तेभ्यो योगाः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः ॥ १७ ॥
तेभ्यः कर्माणि बध्यन्ते ततः सुगतिदुर्गती ।
तत्र कायाः प्रजायन्ते सहजानीन्द्रियाणि च ॥ १८ ॥

तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्णन् मुह्यति द्वेष्टि रज्यते ।
ततो बंधो भ्रमत्येवं मोहव्यूहगतः पुमान् ॥ १९ ॥
तस्मादेतस्य मोहस्य मिथ्याज्ञानस्य च द्विषः ।
ममाहंकारयोश्चात्मन्विनाशाय कुरूद्यमं ॥ २० ॥
बंधहेतुषु मुख्येषु नश्यत्सु क्रमशस्तव ।
शेषोऽपि रागद्वेषादिर्बंधहेतुर्विनश्यति ॥ २१ ॥
ततस्त्वं बंधहेतूनां समस्तानां विनाशतः ।
बंधप्रणाशान्मुक्तः सन्न भ्रमिष्यसि संसृतौ ॥ २२ ॥
बंधहेतुविनाशस्तु मोक्षहेतुपरिग्रहात् ।
परस्परविरुद्धत्वाच्छीतोष्णस्पर्शवत्तयोः ॥ २३ ॥
स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः ।
मुक्तिहेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरासंवरक्रियाः ॥ २४ ॥
जीवादयो नवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिताः ।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनं स्मृतं ॥ २५ ॥
प्रमाणनयनिक्षेपैर्यो याथात्म्येन निश्चयः ।
जीवादिषु पदार्थेषु सम्यग्ज्ञानं तदिष्यते ॥ २६ ॥
चेतसा वचसा तन्वा कृतानुमतकारितैः ।
पापक्रियाणां यस्त्यागः सच्चारित्रमुषंति तत् ॥ २७ ॥
मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चयव्यवहारतः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनं ॥ २८ ॥
अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः ।
व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः ॥ २९ ॥
धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषां ।
चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहाराद् मुक्तिहेतुरयं ॥ ३० ॥

निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्यः समाहितो भिक्षुः ।
नोपादत्ते किंचिन्न च मुञ्चति मोक्षहेतुरसौ ॥ ३१ ॥
यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा ।
दृगवगमचरणरूपस्स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः ३२
स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि ।
तस्मादभ्यसन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यं ॥ ३३ ॥
आर्त्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं वर्जनीयमिदं सदा ।
धर्मं शुक्लं च सद्ध्यानमुपादेयं मुमुक्षुभिः ॥ ३४ ॥
वज्रसंहननोपेताः पूर्वश्रुतसमन्विताः ।
दध्युः शुक्लमिहातीताः श्रेण्योरारोहणक्षमाः ॥ ३५ ॥
तादृक्सामग्र्यभावे तु ध्यातुं शुक्लमिहाक्षमान् ।
ऐदंयुगीनानुद्दिश्य धर्म्यध्यानं प्रचक्ष्महे ॥ ३६ ॥
ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं यस्य यत्र यदा यथा ।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुकामेन योगिना ॥ ३७ ॥
गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितं ।
एकाग्रचिंतनं ध्यानं निर्जरासंवरौ फलं ॥ ३८ ॥
देशः कालश्च सोऽन्वेष्य सा चावस्थानुगम्यतां ।
यदा यत्र यथा ध्यानमपाविघ्नं प्रसिद्ध्यति ॥ ३९ ॥
इति संक्षेपतो ग्राह्यमष्टांगं योगसाधनं ।
विवरीतुमदः किंचिदुच्यमानं निशाम्यतां ॥ ४० ॥
तत्रासन्नीभवेन्मुक्तिः किंचिदासाद्य कारणं ।
विरक्तः कामभोगेभ्यस्त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥ ४१ ॥
अभ्येत्य सम्यगाचार्यं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ।
तपःसंयमसम्पन्नः प्रमादरहिताशयः ॥ ४२ ॥

सम्यग्निर्णीतजीवादिध्येयवस्तुव्यवस्थितिः ।
आर्त्तरौद्रपरित्यागाल्लब्धचित्तप्रसत्तिकः ॥ ४३ ॥

मुक्तलोकद्वयापेक्षः षोढाशेषपरीषहः ।
अनुष्ठितक्रियायोगो ध्यानयोगे कृतोद्यमः ॥ ४४ ॥

महासत्त्वः परित्यक्तदुर्लेश्याशुभभावनः ।
इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्मध्यानस्य सम्मतः ॥ ४५ ॥

अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयतः ।
धर्मध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृताः ॥ ४६ ॥

मुख्योपचारभेदेन धर्मध्यानमिह द्विधा ।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकं ॥ ४७ ॥

द्रव्यक्षेत्रादिसामग्री ध्यानोत्पत्तौ यतस्त्रिधा ।
ध्यातारस्त्रिविधास्तस्मात्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा ॥ ४८ ॥

सामग्रीतः प्रकृष्टाया ध्यातरि ध्यानमुत्तमं ।
स्याज्जघन्यं जघन्याया मध्यमायास्तु मध्यमं ॥ ४९ ॥

श्रुतेन विकलेनापि ध्याता स्यान्मनसा स्थिरः ।
प्रबुद्धधीरधः श्रेण्योर्धर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥ ५० ॥

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः ॥ ५१ ॥

आत्मनः परिणामो यो मोहक्षोभविवर्जितः ।
स च धर्मोनपेतं यत्तस्मात्तद्धर्म्यमित्यपि ॥ ५२ ॥

शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः ।
तस्माद्वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः ॥ ५३ ॥

ततोऽनपेतं यज्जातं तद्धर्म्यं ध्यानमिष्यते ।
धर्मो हि वस्तु याथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः ॥ ५४ ॥

यस्तूत्तमक्षमादिः स्याद्धर्मो दशतया परः ।
ततोऽनपेतं यद्ध्यानं तद्वा धर्म्यमितीरितं ॥ ५५ ॥

एकाग्रचिंतारोधो यः परिस्पंदेन वर्जितः ।
तद्ध्यानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणं ॥ ५६ ॥

एकं प्रधानमित्याहुरग्रमालंबनं मुखं ।
चिंतां स्मृतिं निरोधं तु तस्यास्तत्रैव वर्त्तनं ॥ ५७ ॥

द्रव्यपर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितं ।
तत्र चिंतानिरोधो यस्तद्ध्यानं बभणुर्जिनाः ॥ ५८ ॥

एकाग्रग्रहणं चात्र वै व्यग्रविनिवृत्तये ।
व्यग्रं ह्यज्ञानमेव स्याद्ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥ ५९ ॥

प्रत्याहृत्य यदा चिंतां नानालंबनवर्तिनीं ।
एकालंबन एवैनां निरुणद्धि विशुद्धधीः ॥ ६० ॥

तदास्य योगिनो योगश्चिंतैकाग्रनिरोधनं ।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्टफलप्रदं ॥ ६१ ॥

अथवांगति जानातीत्यग्रमात्मा निरुक्तितः ।
तत्त्वेषु चाग्रगण्यत्वादसावग्रमिति स्मृतः ॥ ६२ ॥

द्रव्यार्थिकनयादेकः केवलो वा तथोदितः ।
अंतःकरणवृत्तिस्तु चिंतारोधो नियंत्रणा ॥ ६३ ॥

अभावो वा निरोधः स्यात्स च चिंतांतरव्ययः ।
एकचिंतात्मको यद्वा स्वसंविच्चिंतयोज्झितः ॥ ६४ ॥

तत्रात्मन्यसहाये यच्चिंतायाः स्यान्निरोधनं ।
तद्ध्यानं तदभावो वा स्वसंवित्तिमयश्च सः ॥ ६५ ॥

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमतिनिश्चलं ।
स्वर्गापवर्गफलदं ध्यानमांतर्मुहूर्त्ततः ॥ ६६ ॥

ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥ ६७ ॥

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।
ततः स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकं ॥ ६८ ॥

ज्ञानादर्थांतरादात्मा तस्माज्ज्ञानं न चान्यतः ।
एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्त्तितं ॥ ६९ ॥

ध्येयार्थालंबनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मान्न भिद्यते ।
द्रव्यार्थिकनयात्तस्माद्ध्यातैव ध्यानमुच्यते ॥ ७० ॥

ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्मान्निश्चयमाश्रितैः ।
तस्मादिदमपि ध्यानं कर्म्माधिकरणद्वयं ॥ ७१ ॥

इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानवर्त्तिनी ।
ज्ञानांतरापरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥ ७२ ॥

एकं च कर्त्ता करणं कर्माधिकरणं फलं ।
ध्यानमेवेदमखिलं निरुक्तं निश्चयान्नयात् ॥ ७३ ॥

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः ।
षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ ७४ ॥

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥ ७५ ॥

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः ।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥ ७६ ॥

ज्ञानवैराग्यरज्जूभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः ।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्त्तुमिन्द्रियवाजिनः ॥ ७७ ॥

येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं चलं मनः ।
स एवोऽपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः ॥ ७८ ॥

संचिंतयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः॥ ७९ ॥

स्वाध्यायःपरमस्तावज्जपः पंचनमस्कृतेः।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥ ८० ॥

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ ८१ ॥

येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति।
तेऽर्हन्मतानभिज्ञत्वं ख्यापयंत्यात्मनः स्वयं ॥ ८२ ॥

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्त्तिनां ॥ ८३ ॥

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।
श्रेण्यो ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकं ॥ ८४ ॥

ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्यश्रुतसागरपारगाः।
तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः ॥ ८५ ॥

चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य संप्रति।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ॥ ८६ ॥

सम्यग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्ननारतं।
धारणासौष्ठवाद्ध्यानं प्रत्ययानपि पश्यति ॥ ८७ ॥

यथाऽभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्त्तिनां ॥ ८८ ॥

यथोक्तलक्षणो ध्याता ध्यातुमुत्सहते यथा।
तदेव परिकर्म्मादौ कृत्वा ध्यायतु धीरधीः ॥ ८९ ॥

शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि।
स्त्रीपशुक्लीबजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे ॥ ९० ॥

अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे।
चेतनाचेतनाशेषध्यानविघ्नविवर्जिते ॥ ९१ ॥
भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा ।
सममृज्वायतं गात्रं निःकंपावयवं दधत् ॥ ९२ ॥
नासाग्रन्यस्तनिष्पंदलोचनो मंदमुच्छ्वसन् ।
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः ॥ ९३ ॥
प्रत्याहृत्याक्षलुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः ।
चिंतां चाकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ॥ ९४ ॥
निरस्तनिद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरंतरं ।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदंतर्विशुद्धये ॥ ९५ ॥
निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे ।
स्वरूपालंबनं पूर्वं परालंबनमुत्तरं ॥ ९६ ॥
अभिन्नमाद्यमन्यत्तु भिन्नं तत्तावदुच्यते ।
भिन्ने हि विहिताभ्यासोऽभिन्नं ध्यायत्यनाकुलः ॥ ९७ ॥
आज्ञापायौ विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च ।
यथागममविक्षिप्तचेतसा चिंतयेन्मुनिः ॥ ९८ ॥
नाम च स्थापनं द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधं ।
समस्तं व्यस्तमप्येतद्ध्येयमध्यात्मवेदिभिः ॥ ९९ ॥
वाच्यस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं भावः स्याद्गुणपर्ययौ ॥ १०० ॥
आदौ मध्येऽवसाने यद्वाङ्मयं व्याप्य तिष्ठति ।
हृदि ज्योतिष्मदुद्गच्छन्नामध्येयं तदर्हतां ॥ १०१ ॥
हृत्पंकजे चतुःपत्रे ज्योतिष्मंति प्रदक्षिणं ।
असिआउसाक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनां ॥ १०२ ॥

ध्यायेदइउएओ च तद्वन्मंत्रानुदर्चिषः ।
मत्यादिज्ञाननामानि मत्यादिज्ञानसिद्धये ॥ १०३ ॥

सप्ताक्षरं महामंत्रं मुखरंध्रेषु सप्तसु ।
गुरूपदेशतो ध्यायेदिच्छन् दूरश्रवादिकं ॥ १०४ ॥

हृदयेऽष्टदलं पद्मं वर्गैः पूरितमष्टभिः ।
दलेषु कर्णिकायां च नाम्नाधिष्ठितमर्हतां ॥ १०५ ॥

गणभृद्वलयोपेतं त्रिःपरीतं च मायया ।
क्षोणीमंडलमध्यस्थं ध्यायेदभ्यर्चयेच्च तत् ॥ १०६ ॥

अकारादिहकारान्ताः मंत्राः परमशक्तयः ।
स्वमंडलगता ध्येया लोकद्वयफलप्रदाः ॥ १०७ ॥

इत्यादीन्मंत्रिणो मंत्रानर्हन्मंत्रपुरस्सरान् ।
ध्यायन्ति यदिह स्पष्टं नामध्येयमवैहि तत् ॥ १०८ ॥

जिनेन्द्रप्रतिबिंबानि कृत्रिमाण्यकृतानि च ।
यथोक्तान्यागमे तानि तथा ध्यायेदशंकितं ॥ १०९ ॥

यथैकमेकदा द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरं ।
तथैव सर्व्वदा सर्वमिति तत्त्वं विचिंतयेत् ॥ ११० ॥

चेतनोऽचेतनो वार्थो यो यथैव व्यवस्थितः ।
तथैव तस्य यो भावो याथात्म्यं तत्त्वमुच्यते ॥ १११ ॥

अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणं ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥ ११२ ॥

यद्विवृत्तं यथापूर्वं यच्च पश्चाद्विवर्त्स्यति ।
विवर्तते यदत्राद्य तदेवेदमिदं च तत् ॥ ११३ ॥

---

१ सूक्ष्मं द्रव्यापृथक्भूता व्यावृत्ताश्च परस्परं । उत्पद्यंते विपद्यंते जलकल्लोलवज्जले ॥

सहवृत्ता गुणास्तत्र पर्यायाः क्रमवर्त्तिनः ।
स्यादेतदात्मकं द्रव्यमेते च स्युस्तदात्मकाः ॥ ११४ ॥
एवंविधमिदं वस्तु स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकं ।
प्रतिक्षणमनाद्यंतं सर्व्वं ध्येयं यथास्थितं ॥ ११५ ॥
अर्थव्यंजनपर्याया मूर्त्तामूर्त्ता गुणाश्च ये ।
यत्र द्रव्ये यथावस्थास्तांश्च तत्र तथा स्मरेत् ॥ ११६ ॥
पुरुषः पुद्गलः कालो धर्माधर्मौ तथांवरं ।
षड्विधं द्रव्यमाम्नातं तत्र ध्येयतमः पुमान् ॥ ११७ ॥
सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते ।
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः ॥ ११८ ॥
तत्रापि तत्त्वतः पंच ध्यातव्याः परमेष्ठिनः ।
चत्वारः सकलास्तेषु सिद्धः स्वामीति निष्कलः ॥ ११९ ॥
अनंतदर्शनज्ञानसम्यक्त्वादिगुणात्मकं ।
स्वोपात्तानंतरत्यक्तशरीराकारधारिणः ॥ १२० ॥
साकारं च निराकारममूर्त्तमजरामरं ।
जिनबिंबमिव स्वच्छस्फटिकप्रतिबिंबितं ॥ १२१ ॥
लोकाग्रशिखरारूढमुद्गूढसुखसंपदं ।
सिद्धात्मानं निराबाधं ध्यायेन्निर्द्धूतकल्मषं ॥ १२२ ॥
तथाद्यमाप्तमाप्तानां देवानामधिदैवतं ।
प्रक्षीणघातिकर्माणं प्राप्तानंतचतुष्टयं ॥ १२३ ॥
दूरमुत्सृज्य भूभागं नभस्तलमधिष्ठितं ।
परमौदारिकस्वांगप्रभाभर्त्सितभास्करं ॥ १२४ ॥

१ मूर्तो व्यंजनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वरस्थिरः। सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थ-
संज्ञकः । २ उद्धृतं ।

चतुस्त्रिंशन्महाश्चर्यैः प्रातिहार्यैश्च भूषितं ।
मुनितिर्यङ्नरस्वर्गिसभाभिः सन्निषेवितं ॥ १२५ ॥

जन्माभिषेकप्रमुखप्राप्तपूजातिशायिनं ।
केवलज्ञाननिर्णीतविश्वतत्त्वोपदेशिनं ॥ १२६ ॥

प्रभास्वल्लक्षणाकीर्णसंपूर्णोदग्रविग्रहं ।
आकाशस्फटिकांतस्थज्वलज्ज्वालानलोज्वलं ॥ १२७ ॥

तेजसामुत्तमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं ।
परमात्मानमर्हंतं ध्यायेन्निःश्रेयसाप्तये ॥ १२८ ॥

वीतरागोऽप्ययं देवो ध्यायमानो मुमुक्षुभिः ।
स्वर्गापवर्गफलदः शक्तिस्तस्य हि तादृशी ॥ १२९ ॥

सम्यग्ज्ञानादिसंपन्नाः प्राप्तसप्तमहर्धयः ।
तथोक्तलक्षणाः ध्येयाः सूर्युपाध्यायसाधवः ॥ १३० ॥

एवं नामादिभेदेन ध्येयमुक्तं चतुर्विधं ।
अथवा द्रव्यभावाभ्यां द्विधैव तदवस्थितं ॥ १३१ ॥

द्रव्यध्येयं बहिर्वस्तु चेतनाचेतनात्मकं ।
भावध्येयं पुनर्ध्येयसन्निभध्यानपर्ययः ॥ १३२ ॥

ध्याने हि बिभ्रते स्थैर्यं ध्येयरूपं परिस्फुटं ।
आलेखितमिवाभाति ध्येयस्यासन्निधावपि ॥ १३३ ॥

धातुपिंडे स्थितश्चैवं ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः ।
ध्येयपिंडस्थमित्याहुरत एव च केवलं ॥ १३४ ॥

यदा ध्यानबलाद्ध्याता शून्यीकृत्य स्वविग्रहं ।
ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्तादृक् संपद्यते स्वयं ॥ १३५ ॥

तदा तथाविधध्यानसंवित्तिध्वस्तकल्पनः ।
स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथः ॥ १३६ ॥

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतं ।
एतदेव समाधिः स्याल्लोकद्वयफलप्रदः ॥ १३७ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः ।
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्यं तत्र बिभ्रता ॥ १३८ ॥

माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहः ।
वैतृष्ण्यं परमः शांतिरित्येकोऽर्थोऽभिधीयते ॥ १३९ ॥

संक्षेपेण यदत्रोक्तं विस्तरात्परमागमे ।
तत्सर्वं ध्यानमेव स्याद्ध्यातेषु परमेष्ठिषु ॥ १४० ॥

व्यवहारनयादेवं ध्यानमुक्तं पराश्रयं ।
निश्चयादधुना स्वात्मालंबनं तन्निरूप्यते ॥ १४१ ॥

ब्रुवता ध्यानशब्दार्थं यद्रहस्यमवादिसत्।
तथापि स्पष्टमाख्यातुं पुनरप्यभिधीयते ॥ १४२ ॥

दिधासुः स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थितिं ।
विहायान्यदनार्थित्वात् स्वमेवावैतु पश्यतु॥ १४३ ॥

पूर्वं श्रुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः ।
तत्रैकाग्र्यं समासाद्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ १४४ ॥

यस्तु नालंब्यते श्रौतीं भावनां कल्पनाभयात् ।
सोऽवश्यं मुह्यति स्वस्मिन्बहिश्चिंतां बिभर्ति च ॥ १४५ ॥

तस्मान्मोहप्रहाणाय बहिश्चिंतानिवृत्तये ।
स्वात्मानं भावयेत्पूर्वमैकाग्र्यस्य च सिद्धये ॥ १४६ ॥

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः ।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥ १४७ ॥

नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः ।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योन्यस्याहमेव मे ॥ १४८ ॥

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनं ।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः ॥ १४९॥
अचेतनं भवे नाहं नाहमप्यस्त्यचेतनं ।
ज्ञानात्माहं न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ॥ १५० ॥
योऽत्र स्वस्वामिसंबंधो ममाभूद्वपुषा सह ।
यश्चैकत्वभ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपतः॥ १५१ ॥
जीवादिद्रव्ययाथात्म्यज्ञातात्मकमिहात्मना ।
पश्यन्नात्मन्यथात्मानमुदासीनोऽस्मि वस्तुषु ॥ १५२ ॥
सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः ।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्त्तः ॥ १५३ ॥
सन्नेवाहं सदाप्यस्मि स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असन्नेवास्मि चात्यंतं पररूपाद्यपेक्षया ॥ १५४ ॥
यन्न चेतयते किंचिन्नाचेतयत किंचन ।
यच्चेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नास्म्यहं ॥ १५५ ॥
यदचेतत्तथा पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा ।
चेतनीयं यदत्राद्य तच्चिद्द्रव्यं समस्म्यहं ॥ १५६ ॥
स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तूपेक्ष्यमिदं जगत् ।
नोऽहमेष्टा न च द्वेष्टा किन्तु स्वयमुपेक्षिता॥ १५७ ॥
मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः ।
नाऽहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन॥ १५८ ॥
एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्वात्मानं भिन्नमन्यतः ।
विधाय तन्मयं भावं न किंचिदपि चिंतये ॥ १५९ ॥
चिंताभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्यादृशामिव ।
दृग्बोधसाम्यरूपस्य यत्स्वसंवेदनं हि सः ॥ १६० ॥

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः ।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशं ॥ १६१ ॥

स्वपरज्ञप्तिरूपत्वान्न तस्य कारणान्तरं ।
ततश्चिंतां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यतां ॥ १६२ ॥

दृग्बोधसाम्यरूपत्वाज्जानन् पश्यन्नुदासिता ।
चित्सामान्यविशेषात्मा स्वात्मनैवानुभूयतां ॥ १६३ ॥

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहं ।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥ १६४ ॥

यन्मिथ्याभिनिवेशेन मिथ्याज्ञानेन चोज्झितं ।
तन्मध्यस्थं निजं रूपं स्वस्मिन्संवेद्यतां स्वयं ॥ १६५ ॥

न हीन्द्रियधिया दृश्यं रूपादिरहितत्वतः ।
वितर्कास्तन्न पश्यंति ते ह्यविस्पष्टतर्कणाः ॥ १६६ ॥

उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतींद्रियं ।
स्वसंवेद्यं हि तद्रूपं स्वसंवित्त्यैव दृश्यतां ॥ १६७ ॥

वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातंत्र्येण चकासते ।
चेतना ज्ञानरूपेऽयं स्वयं दृश्यत एव हि ॥ १६८ ॥

समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नानुभूयते ।
तदा न तस्य तद्ध्यानं मूर्छावान्मोह एव सः ॥ १६९ ॥

तदेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति ।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरं ॥ १७० ॥

यथा निर्वातदेशस्थः प्रदीपो न प्रकंपते ।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति ॥ १७१ ॥

तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥ १७२ ॥

अत एवान्यशून्योऽपि नात्मा शून्यः स्वरूपतः ।
शून्याशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते ॥ १७३ ॥
ततश्च यज्जगुर्मुक्त्यै नैरात्म्याद्वैतदर्शनं ।
तदेतदेव यत्सम्यगन्यापोढात्मदर्शनं ॥ १७४ ॥
परस्परपरावृत्ताः सर्वे भावाः कथंचन ।
नैरात्म्यं जगतो यद्वन्नैर्जगत्यं तथात्मनः ॥ १७५ ॥
अन्यात्माभावो नैरात्म्यं स्वात्मसत्तात्मकश्च सः ।
स्वात्मदर्शनमेवातः सम्यग्नैरात्म्यदर्शनं ॥ १७६ ॥
आत्मानमन्यसंपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति ।
पश्यन् विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयं ॥ १७७ ॥
पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यार्जितान्मलान् ।
निरस्ताहंममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ॥ १७८ ॥
यथा यथा समाध्याता लप्स्यते स्वात्मनि स्थितिं ।
समाधिप्रत्ययाश्चास्य स्फुटिष्यन्ति तथा तथा ॥ १७९ ॥
एतद्द्वयोरपि ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः ।
विशुद्धिस्वामिभेदात्तु तयोर्भेदोऽवधार्यतां ॥ १८० ॥
इदं हि दुःशकं ध्यातुं सूक्ष्मज्ञानावलंबनात् ।
बोध्यमानमपि प्राज्ञैर्न च द्रागवलक्ष्यते ॥ १८१ ॥
तस्माल्लक्ष्यं च शक्यं च दृष्टादृष्टफलं च यत् ।
स्थूलं वितर्कमालंब्य तदभ्यस्यंतु धीधनाः ॥ १८२ ॥
आकारं मरुतापूर्य कुंभित्वा रेफवह्निना ।
दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म स्वतो भस्म विरेच्य च ॥ १८३ ॥
हमंत्रो नभसि ध्येयः क्षरन्नमृतमात्मनि ।
तेनाऽन्यत्तद्विनिर्माय पीयूषमयमुज्ज्वलं ॥ १८४ ॥

तत्रादौ पिंडसिद्धयर्थं निर्मलीकरणाय च ।
मारुतीं तैजसीमाथां विदध्याद्धारणां क्रमात् ॥ १८५॥
ततः पंचनमस्कारैः पंचपिंडाक्षरान्वितैः ।
पंचस्थानेषु विन्यस्तैर्विधाय सकलां क्रियाम् ॥ १८६ ॥
पश्चादात्मानमर्हंतं ध्यायेन्निर्दिष्टलक्षणं ।
सिद्धं वा ध्वस्तकर्माणममूर्त्तं ज्ञानभास्वरं ॥ १८७ ॥
नन्वनर्हंतमात्मानमर्हंतं ध्यायतां सतां ।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिर्भवतां भवतीति चेत् ॥ १८८ ॥
तन्न चोद्यं यतोऽस्माभिर्भावार्हन्नयमर्पितः ।
स चार्हद्ध्याननिष्ठात्मा ततस्तत्रैव तद्ग्रहः ॥ १८९ ॥
परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति ।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हः स्यात्स्वयं तस्मात् ॥ १९० ॥
येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥ १९१ ॥
अथवा भाविनो भूताः स्वपर्यायास्तदात्मकाः ।
आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ॥ १९२ ॥
ततोऽयमर्हत्पर्यायो भावी द्रव्यात्मना सदा ।
भव्येष्वास्ते सतश्चास्य ध्याने को नाम विभ्रमः ॥ १९३ ॥
किंच भ्रांतं यदीदं स्यात्तदा नातः फलोदयः ।
नहि मिथ्याजलाज्जातु विच्छित्तिर्जायते तृषः ॥ १९४ ॥
प्रादुर्भवंति चामुष्मात्फलानि ध्यानवर्तिनां ।
धारणावशतः शान्तक्रूररूपाण्यनेकधा ॥ १९५ ॥
गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः ।
अनंतशक्तिरात्मायं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥ १९६ ॥

ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये ।
तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ॥ १९७ ॥
ज्ञानं श्रीरायुरारोग्यं तुष्टिपुष्टिर्वपुर्धृतिः ।
यत्प्रशस्तमिहान्यच्च तत्तद्ध्यातुः प्रजायते ॥ १९८ ॥
तद्ध्यानाविष्टमालोक्य प्रकंपन्ते महाग्रहाः ।
नश्यन्ति भूतशाकिन्यः क्रूराः शाम्यंति च क्षणात् ॥१९९॥
यो यत्कर्म प्रभुर्देवस्तद्ध्यानाविष्टमात्मनः ।
ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्मवांछितं ॥ २०० ॥
पार्श्वनाथो भवन्मंत्री सकलीकृतविग्रहः ।
महामुद्रां महामंत्रं महामंडलमाश्रितः ॥ २०१ ॥
तेजस्वीप्रभृतीर्बिभ्रद्धारणाश्च यथोचितं ।
निग्रहादीनुदग्राणां ग्रहाणां कुरुते द्रुतं ॥ २०२ ॥
स्वयमाखंडलो भूत्वा महामंडलमध्यगः ।
किरीटकुंडली वज्री पीतभूषाम्बरादिकः ॥ २०३ ॥
कुंभकीस्तंभमुद्राद्यास्तंभनं मंत्रमुच्चरन् ।
स्तंभकार्याणि सर्वाणि करोत्येकाग्रमानसः ॥ २०४ ॥
स स्वयं गरुडीभूय क्ष्वेडं क्षपयति क्षणात् ।
कंदर्पश्च स्वयं भूत्वा जगन्नयति वश्यतां ॥ २०५ ॥
एवं वैश्वानरो भूयं ज्वलज्ज्वालाशताकुलः ।
शीतज्वरं हरत्याशु व्याप्य ज्वालाभिरातुरं ॥ २०६ ॥
स्वयं सुधामयो भूत्वा वर्षन्नमृतमातुरे ।
अथैसमात्मसाकृत्य दाहज्वरमपास्यति ॥ २०७ ॥
क्षीरोदधिमयो भूत्वा प्लावयन्नखिलं जगत् ।
शांतिकं पौष्टिकं योगी विदधाति शरीरिणाम् ॥ २०८ ॥

किमत्र बहुनोक्तेन यद्यत्कर्म चिकीर्षति ।
तद्देवतामयो भूत्वा तत्तन्निर्वर्तयत्ययम् ॥ २०९ ॥
शांते कर्म्मणि शांतात्मा क्रूरे क्रूरो भवन्नयं ।
शांतक्रूराणि कर्माणि साधयत्येव साधकः॥ २१० ॥
आकर्षणं वशीकारः स्तंभनं मोहनं द्रुतिः ।
निर्विषीकरणं शांतिविद्वेषोच्चाटनिग्रहाः ॥ २११ ॥
एवमादीनि कार्याणि दृश्यन्ते ध्यानवर्तिनां ।
ततः समरसीभावसफलत्वान्न विभ्रमः ॥ २१२ ॥
यत्पुनः पूरणं कुंभो रेचनं दहनं प्लवः ।
सकलीकरणं मुद्रामंत्रमंडलधारणाः ॥ २१३ ॥
कर्म्माधिष्ठातृदेवानां संस्थानं लिंगमासनं ।
प्रमाणं वाहनं वीर्यं जातिर्नामद्युतिर्दिशा ॥ २१४ ॥
भुजवक्त्रनेत्रसंख्यां भावः क्रूरस्तथेतरः ।
वर्णस्पर्शस्वरोऽवस्था वस्त्रं भूषणमायुधं ॥ २१५ ॥
एवमादि यदन्यच्च शांतक्रूराय कर्मणे ।
मंत्रवादादिषु प्रोक्तं तद्ध्यानस्य परिच्छदः ॥ २१६ ॥
यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत् ।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणं ॥ २१७ ॥
ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम् ।
गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाभ्यासः स्थिरं मनः ॥ २१८ ॥
अत्रैवमाग्रहं कार्षुर्यद्ध्यानफलमैहिकं ।
इदं हि ध्यानमाहात्म्यख्यापनाय प्रदर्शितं ॥ २१९ ॥
यद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिकफलार्थिनां ।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्म्यं शुक्लमुपास्यतां ॥ २२० ॥

तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु ।
शुभाशुभमलापायाद्विशुद्धं शुक्लमभ्यधुः ॥ २२१ ॥
शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद्वा ।
माणिक्यशिखावदिदं सुनिर्मलं निःप्रकंपं च ॥ २२२ ॥
रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा बंधनिबंधनं ।
ध्यानमभ्यस्यतां नित्यं यदि योगिन्मुमुक्षसे ॥ २२३ ॥
ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण त्रुट्यन्मोहस्य योगिनः ।
चरमांगस्य मुक्तिः स्यात्तदा अन्यस्य च क्रमात् ॥ २२४ ॥
तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा ।
निर्जरासंवरश्च स्यात्सकलाशुभकर्मणां ॥ २२५ ॥
आस्रवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणं ।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ॥ २२६ ॥
तत्र सर्वेन्द्रियामोदि मनसः प्रीणनं परं ।
सुखामृतं पिबन्नास्ते सुचिरं सुरसेवितः ॥ २२७ ॥
ततोऽवतीर्य मर्त्येऽपि चक्रवर्त्यादिसंपदः ।
चिरं भुक्त्वा स्वयं मुक्त्वा दीक्षां दैगंबरीं श्रितः ॥ २२८ ॥
वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधं ।
विधूयाष्टापि कर्म्माणि श्रयते मोक्षमक्षयं ॥ २२९ ॥
आत्यंतिकः स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीवकर्मणोः ।
स मोक्षः फलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिका गुणाः ॥ २३० ॥
कर्मबंधनविध्वंसादूर्ध्वं व्रज्यास्वभावतः ।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति ॥ २३१ ॥
पुंसः संहारविस्तारौ संसारे कर्मनिर्मितौ ।
मुक्तौ तु तस्य तौ नस्तः क्षयात्तद्धेतुकर्मणां ॥ २३२ ॥

ततः सोऽनंतरत्यक्तस्वशरीरप्रमाणतः ।
किंचिदूनस्तदाकारस्तत्रास्ते स्वगुणात्मकः ॥ २३३ ॥

स्वरूपावस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः ।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकं ॥ २३४ ॥

स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्य प्रकाशनं ।
भानुमंडलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनं ॥ २३५ ॥

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्माणि पौरुषः ।
यथा मणिस्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके मले ॥ २३६ ॥

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थः प्रतिक्षणं ॥ २३७ ॥

त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं ।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ॥ २३८ ॥

अनंतज्ञानदृग्वीर्यवैतृष्ण्यमयमव्ययं ।
सुखं चानुभवत्येष तत्रातींद्रियमच्युतः ॥ २३९ ॥

ननु चाक्षैस्तदर्थानामनुभोक्तुः सुखं भवेत् ।
अतीन्द्रियेषु मुक्तेषु मोक्षे तत्कीदृशं सुखं ॥ २४० ॥

इति चेन्मन्यसे मोहात्तन्न श्रेयो मतं यतः ।
नाद्यापि वत्स त्वं वेत्सि स्वरूपं सुखदुःखयोः ॥ २४१ ॥

आत्मायत्तं निराबाधमतींद्रियमनश्वरं ।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ॥ २४२ ॥

यत्तु संसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतं ।
स्वपरद्रव्यसंभूतं तृष्णासंतापकारणं ॥ २४३ ॥

मोहद्रोहमदक्रोधमायालोभनिबंधनं ।
दुःखकारणबंधस्य हेतुत्वाद्दुःखमेव तत् ॥ २४४ ॥

तन्मोहस्यैव माहात्म्यं विषयेभ्योऽपि यत् सुखं।
यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तद्विजृंभितं ॥ २४५ ॥
यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसां।
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनां ॥ २४६ ॥
अत एवोत्तमो मोक्षः पुरुषार्थेषु पठ्यते।
स च स्याद्वादिनामेव नान्येषामात्मविद्विषां ॥ २४७ ॥
यद्वा बंधश्च मोक्षश्च तद्धेतू च चतुष्टयं।
नास्त्येवैकांतरक्तानां तद्व्यापकमनिच्छतां ॥ २४८ ॥
अनेकांतात्मकत्वेन व्याप्तावत्र क्रमाक्रमौ।
ताभ्यामर्थक्रिया व्याप्ता तयास्तित्वं चतुष्टये ॥ २४९ ॥
मूलव्याप्तुर्निवृत्तौ तु क्रमाक्रमनिवृत्तितः।
क्रियाकारकयोर्भ्रंशान्न स्यादेतच्चतुष्टयं ॥ २५० ॥
ततो व्याप्ता समस्तस्य प्रसिद्धश्च प्रमाणतः।
चतुष्टयसदिच्छद्भिरनेकांतोऽवगम्यतां ॥ २५१ ॥
सारश्चतुष्टयेऽप्यस्मिन्मोक्षः सद्ध्यानपूर्वकः।
इति मत्वा मया किंचिद्ध्यानमेव प्रपंचितं ॥ २५२ ॥
यद्यप्यत्यंतगंभीरमभूमिर्मादृशामिदम्।
प्रावर्त्तिषि तथाप्यत्र ध्यानभक्तिप्रचोदितः ॥ २५३ ॥
यदत्र स्खलितं किंचिच्छाद्मस्थ्यादर्थशब्दयोः।
तन्मे भक्तिप्रधानस्य क्षमतां श्रुतदेवता ॥ २५४ ॥
वस्तुयाथात्म्यविज्ञानश्रद्धानध्यानसंपदः।
भवंतु भव्यसत्त्वानां स्वस्वरूपोपलब्धये ॥ २५५ ॥
श्रीवीरचन्द्रशुभदेवमहेंद्रदेवाः
शास्त्राय यस्य गुरवो विजयामरश्च।

दीक्षागुरुः पुनरजायत पुण्यमूर्तिः
श्रीनागसेनमुनिरुद्यचरित्रकीर्तिः ॥ २५६ ॥

तेन प्रवृद्धधिषणेन गुरूपदेश-
मासाद्य सिद्धिसुखसंपदुपायभूतं ।
तत्त्वानुशासनमिदं जगतो हिताय
श्रीनागसेनविदुषा व्यरचि स्फुटार्थं ॥ २५७ ॥

जिनेंद्राः सद्ध्यानज्वलनहुतघातिप्रकृतयः
प्रसिद्धाः सिद्धाश्च प्रहततमसः सिद्धिनिलयाः ।
सदाचार्या वर्याः सकलसदुपाध्यायमुनयः ।
पुनंतु स्वांतं नस्त्रिजगदधिकाः पंच गुरुवः ॥ २५८ ॥

देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगत् दुग्धांबुराशाविव
ज्ञानज्योतिषि च स्फुटत्यतितरामों भूर्भुवःस्वस्त्रयी ।
शब्दज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासंत्यमी
स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायास्तु नः ॥२५९॥

इति श्रीमन्नागसेनमुनिविरचितः तत्त्वानुशासनसिद्धान्तः समाप्तः ।

श्रीमत्पूज्यपादस्वामिविरचितः

इष्टोपदेशः ।

श्रीपण्डित-आशाधर-कृतसंस्कृतटीकासमेतः ।

टीकाकारस्य मंगलाचरणम् ।

परमात्मानमानम्य मुमुक्षुः स्वात्मसंविदे ।
इष्टोपदेशमाचष्टे स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम् ॥

तत्रादौ यो यद्गुणार्थी स तद्गुणोपेतं पुरुषविशेषं नमस्करोतीति परमात्मगुणार्थी ग्रंथकर्ता परमात्मानं नमस्करोति, तद्यथा;—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः ।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १ ॥

अस्तु भवतु । किं तन्नमः नमस्कारः कस्मै, तस्मै परमात्मने । परम अनाध्येयाप्रहेयातिशयत्वात्सकलसंसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा चेतनः परमात्मा तस्मै । किंविशिष्टाय, संज्ञानरूपाय सम्यक्सकलार्थसाक्षात्कारित्वादितदत्यन्तसूक्ष्मत्वादीनामपि लाभात्कर्महंतृत्वादेरपि विकारस्य त्यागाच्च संपूर्णज्ञानं स्वपरावबोधस्तदेव रूपं यस्य तस्मै । एवमाराध्यस्वरूपमुक्त्वा तत्प्राप्त्युपायमाह । यस्याभूत्कासौ स्वभावाप्तिः स्वभावस्य निर्मलनिश्चलचिद्रूपस्य आप्तिर्लब्धिः कथंचित्तादात्म्यपरिणतिः । कृतकृत्यतया स्वरूपेऽवस्थितिरित्यर्थः । केन, स्वयं संपूर्णरत्नत्रयात्मनात्मना । क्व सति, अभावे शक्तिरूपतया विनाशे । कस्य, कृत्स्नकर्मणः । कृत्स्नस्य सकलस्य द्रव्यभावरूपस्य कर्मण आत्मपारतंत्र्यनिमित्तस्य ॥ १ ॥

---

१ अनारोपि अप्रतिहत—। २ ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि, रागद्वेषादयो भावकर्माणि ।

अथ शिष्यः प्राह स्वस्य स्वयं स्वरूपोपलब्धिः कथमिति स्वस्यात्मनः स्वयमात्मना स्वरूपस्य सम्यक्त्वादिगुणाष्टकाभिव्यक्तिरूपस्य उपलब्धिः कथं केनोपायेन दृष्टांताभावादिति। अत्राचार्यः समाधत्ते;—

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता॥ २॥

मता अभिप्रेता लोकैः। कासौ, स्वर्णता सुवर्णभावः। कस्य, दृषदः सुवर्णाविर्भावयोग्यपाषाणस्य। केन, योग्यानां सुवर्णपरिणामकरणोचितानां उपादानानां कारणानां योगेन मेलापकेन संपत्त्या यथा। एवमात्मनोऽपि पुरुषस्यापि न केवलं दृषद इत्यपि शब्दार्थः। मता कथिता। कासौ, आत्मता। आत्मनो जीवस्य भावो निर्मलनिश्चलचैतन्यं। कस्यां सत्यां, द्रव्यादिस्वादिसंपत्तौ द्रव्यमन्वयिभावः आदिर्येषां क्षेत्रकालभावानां ते च ते स्वादयश्च सुशब्दः स्वशब्दो वा आदिर्येषां ते स्वादयो द्रव्यादयश्च स्वादयश्च। इच्छातो विशेषणविशेष्यभावः इति समासः। सुद्रव्यं सुक्षेत्रं सुकालः सुभाव इत्यर्थः। सुशब्दः प्रशंसार्थः। प्राशस्त्यं चात्र प्रकृतकार्योपयोगित्वं द्रव्यादिस्वादीनां संपत्तिः संपूर्णता तस्यां सत्यां।

अथ शिष्यः प्राह—तर्हि व्रतादीनामानर्थक्यमिति। भगवन् यदि सुद्रव्यादिसामग्र्यां सत्यामेवायमात्मा स्वात्मानमुपलप्स्यते तर्हि व्रतानि हिंसाविरत्यादीनि आदयो येषां समित्यादीनां तेषामानर्थक्यं निःफलत्वं स्यादभिप्रेतायाः स्वात्मोपलब्धेः सुद्रव्यादिसंपत्त्यपेक्षत्वादित्यर्थः। अत्राचार्यो निषेधमाह—तन्नेति। वत्स! यत्त्वया शंकितं व्रतादीनामानर्थक्यं तन्न भवति। तेषामपूर्वशुभकर्मनिरोधेनोपार्जिताशुभकर्मैकदेशक्षपणेन च सफलत्वात्तद्विषयरागलक्षणशुभोपयोगजनितपुण्यस्य च स्वर्गादिपदप्राप्तिनिमित्तत्वादेव च व्यक्तीकर्तुं वक्ति;—

१ मेलापकेन। २ कस्यां सामग्र्यां विद्यमानायां। ३ प्रारब्धकार्यसाधकत्वं। ४ वांछितायाः।

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्बत नारकं ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

वरं भवतु । किं तत्पदं स्थानं । किंविशिष्टं, दैवं देवानामिदं दैवं स्वर्गः कैर्हेतुभिर्व्रतैर्व्रतादिविषयरागजनितपुण्यैः तेषां स्वर्गादिपदाभ्युदयनिबंधत्वेन सकलजनसुप्रसिद्धत्वात् तर्ह्यऽव्रतान्यपि तथाविधानि भविष्यंतीत्याशंकयाह । नेत्यादि । न वरं भवति । किं तत्पदं । किंविशिष्टं, नारकं नरकसंबंधि। कैः, अव्रतैः हिंसादिपरिणामजनितपातकैः बतेति खेदे कष्टे वा । तर्हि व्रताव्रतनिमित्तयोरपि देवनारकपक्षयोः साम्यं भविष्यतीत्याशंकायां तयोर्महदंतरमिति दृष्टांतेन प्रकटयन्नाह । छायेत्यादि । भवति । कोऽसौ, भेदः अंतरं । किं–विशिष्टो, महान् बृहत् । कयोः, पथिकयोः । किं कुर्वतोः, स्वकार्यवशान्नगरांतर्गतं तृतीयं स्वसार्थिकमागच्छंतं पथि प्रतिपालयतोः प्रतीक्षमाणयोः । किं विशिष्टयोः सतोः, छायातपस्थयोः छाया च आतपश्च छायातपौ तयोः स्थितयोः । अयमर्थो यथैव छायास्थितस्तृतीयागमनकालं यावत्सुखेन तिष्ठति आतपस्थितश्च दुःखेन तिष्ठति तथा व्रतादिकृतानि स आत्मा जीवः सुद्रव्यादयो मुक्तिहेतवो यावत्संपद्यते तावत्स्वर्गादिपदेषु सुखेन तिष्ठति अन्यश्च नरकादिपदेषु दुःखेनेति । अथ विनेयः पुनराशंकते । एवमात्मनि भक्तिरयुक्ता स्यादिति भगवन्नेवं चिरभाविमोक्षसुखस्य व्रतसाध्ये संसारसुखे सिद्धे सत्यात्मनि चिद्रूपे भक्तिर्भावविशुद्ध आंतरोऽनुरागो अयुक्ता अनुपपन्ना स्याद्भवेत् तत्साध्यस्य मोक्षसुखस्य सुद्रव्यादिसंपत्त्यपेक्षया दूरवर्तित्वादवांतरप्राप्यस्य च स्वर्गादिसुखस्य व्रतैकसाध्यत्वात् । अत्राप्याचार्यः समाधत्ते । तदपि नेति न केवलं व्रतादिनामानर्थक्यं न भवेत् किं तर्हि तदप्यात्मभक्त्यनुपपत्तिप्रकाशनमपि त्वया क्रियमाणं न साधुः स्यादित्यर्थः । यतः—

१ मध्यलभ्यस्य । २ अयुक्तिः ।

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी ।
यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्द्धे किं स सीदति ॥ ४ ॥

यत्रात्मनि विषये प्रणिधाने भावः कर्त्ता दत्ते प्रयच्छति । किं तच्छिवं मोक्षं भावुकाय भव्यायेति शेषः । तस्यात्मविषयस्य शिवदानसमर्थस्य भावस्य द्यौः स्वर्गः कियद्दूरवर्तिनी कियद्दूरे किंपरिमाणे व्यवहितदेशे वर्तते ? निकट एव तिष्ठतीत्यर्थः । स्वात्मध्यानोपात्तपुण्यस्य तदेकफलत्वात् । तथा चोक्तं—

" गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः ।
अनंतशक्तिरात्मायं मुक्तयं भुक्त्यं च यच्छति ॥
ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमांगस्य मुक्तये ॥
तद्ध्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये " ॥

अमुमेवार्थं दृष्टांतेन स्पष्टयन्नाह—य इत्यादि । यो वाहीको नयति प्रापयति किं स्वबाह्यं भारं । कां, गव्यूतिं क्रोशयुगं । कथं, आशु शीघ्रं स किं क्रोशार्द्धे स्वभारं नयन् सीदति खिद्यते ? न खिद्यत इत्यर्थः । महाशक्तावल्पशक्तेः सुघटत्वात् ।

अथैवमात्मभक्तेः स्वर्गगतिसाधनत्वेऽपि समर्थिते प्रतिपाद्यस्तत्फलजिज्ञासया गुरुं पृच्छति स्वर्गे गतानां किं फलमिति स्पष्टं गुरुरुत्तरयति;—

हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितम् ।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥ ५ ॥

वत्स अस्ति । किं तत्सौख्यं शर्म्म । केषां, नाकौकसां देवानां न पुनः स्वर्गेऽपि जातानामेकेंद्रियाणां । क्व वसतां, नाके स्वर्गे न पुनः क्रीडादिवशाद्रमणीयपर्वतादौ । किमतींद्रियं तन्नेत्याह—हृषीकजं हृषीकेभ्यः समीहितानंतरमुपस्थितं निजं निजं विषयमनुभवद्भ्यः स्पर्शनादींद्रियेभ्यः सर्वा-

१ वाह्यं । २ शिष्यः । ३ ज्ञातुमिच्छया ।

गीणाल्हादनाकरतया प्रादुर्भूतं तथा राज्यादिसुखवत्सातंकं भविष्यतीत्याशंकापनोदार्थमाह । अनातंकं न विद्यते आतंकः प्रतिपक्षादिकृतश्चित्तक्षोभो यत्र तथापि भोगभूमिजसुखवदल्पकालभोग्यं भविष्यतीत्याशंकायामाह । दीर्घकालोपलालितं दीर्घकालं सागरोपमपरिच्छिन्नकालं यावदुपलालितमाज्ञाविधेयैर्देवदेवीस्वविलासिनीभिः क्रियमाणोपचारत्वादुत्कर्षं प्रापितं तर्हि क्व केषामिव तदित्याह, नाके नाकौकसामिव स्वर्गे देवानां यथा अनन्योपममित्यर्थः । अत्र शिष्यः प्रत्यवतिष्ठते यदि स्वर्गेऽपि सुखमुत्कृष्टं किमपवर्गप्रार्थनयेति । भगवन् यदि चेत् स्वर्गेऽपि न केवलमपवर्गे सुखमस्ति कीदृशं उत्कृष्टं मर्त्यादिसुखातिशायि तर्हि किं कार्यं कया अपवर्गस्य मोक्षस्य प्रार्थनया अपवर्गो मे भूयादित्याभिलाषेण ।

एवं च संसारसुखे एव निर्बंधं कुर्वन्तं प्रबोध्यं तत्सुखदुःखस्य भ्रांतत्वप्रकाशनाय आचार्यः प्रबोधयति;—

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां ।
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि ॥ ६ ॥

एतत् प्रतीयमानमैंद्रियकं सुखं दुःखं चास्ति कीदृशं वासनामात्रमेव जीवस्योपकारकत्वापकारकत्वाभावेन परमार्थतो देहादावुपेक्षणीये तत्त्वानवबोधादिदं ममेष्टमुपकारकत्वादिदं चानिष्टमपकारकत्वादिति विभ्रमाज्जातः संस्कारो वासना इष्टानिष्टार्थानुभवानंतरमुद्भूतः स्वसंवेद्य आभिमानिकः परिणामः । वासनैव न स्वाभाविकमात्मस्वरूपमित्यन्ययोगव्यवच्छेदार्थो मात्र इति स्वयोगव्यवस्थापकश्चैव शब्दः । केषामेतदेव भूतमस्तीत्याह । देहिनां देह एवात्मत्वेन गृह्यमाणोस्तीति देहिनो बहिरात्मानस्तेषां एतदेव समर्थयितुमाह । तथाहीत्यादि । उक्तार्थस्य दृष्टांतेन समर्थनार्थस्तथाहीति

---

१ सर्वमंगं व्याप्नोति । २ आदेशवशवर्ति । ३ सेवा । ४ पूर्वपक्षं करोति । ५ दृढं । ६ शिष्यं । ७ त्यजनीये ।

शब्दः। उद्वेजयंति उद्वेगं कुर्वन्ति न सुखयन्ति के ते, एते सुखजनकत्वेनं लोके प्रतीता भोगाः रमणीयरमणीप्रमुखाः इंद्रियार्थाः। क इव, रोगा इव ज्वरादिव्याधयो यथा। कस्यां सत्यामापदि दुर्निवारवैरिप्रभृतिसंपादित-दौर्मनस्यलक्षणायां विपदि। तथाचोक्तम्—

" मुंचांगं ग्लपयस्यलं क्षिप कुतोऽथक्षाश्च विद्रूभात्यदो
दूरे धेहि न हृष्य एष किमभूरन्या न वेत्सि क्षणम् ।
स्थेयं चेद्धि निरुद्धि गामिति तवोद्योगे द्विषः स्त्री क्षिपं-
त्याश्लेषक्रमुकांगरागललितालापैर्विधित्सू रतिम्॥ "

अपि च—

" रम्यं हर्म्यं चंदनं चंद्रपादा
वेणुर्वीणा यौवनस्था युवत्यः।
नैते रम्या क्षुत्पिपासार्दितानां
सर्वारंभास्तंदुलाप्रस्थमूलाः॥ "

तथा। आतपे धृतिमता सह बध्वा यामिनीविरहिणा विहगेन सेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुःखिते मनसि सर्वमसह्यमित्यादि। अतो ज्ञायते ऐंद्रियकं सुखं वासनामात्रमेव नात्मनः स्वाभाविकानाकुलत्वस्वभावं। कथमन्यथा लोके सुखजनकत्वेन प्रतीतानामपि भावानां दुःखहेतुत्वं। एवं दुःखमपि। अत्राह पुनः शिष्यः—एते सुखदुःखे खलु वासनामात्रे कथं न लक्ष्येते इति। खल्विति वाक्यालंकारे निश्चये वा। कथं केन प्रकारेण न लक्ष्येते न संवेद्येते लोकैरिति शेषः। शेषं स्पष्टम्।

अत्राचार्यः प्रबोधयति;—

मोहेन संवृतं[1] ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः॥ ७॥

---

१ आच्छादितं।

न हि नैव लभते परिछिनत्ति धातूनामनेकार्थत्वाल्लभेर्ज्ञानेपि वृत्तिस्तथाव-ह्लोको वक्ति मयास्य चित्तं लब्धमिति । किं तत् कर्तृ, ज्ञानं धर्म्मधर्म्मिणोः कथंचित्तादात्म्यादर्थग्रहणव्यापारपरिणत आत्मा । कं, स्वभावं स्वो साधारणो अन्योऽन्यव्यतिकरे सत्यपि व्यक्त्यंतरेभ्यो विवक्षितार्थस्य व्यावृत्तप्रत्ययहेतुर्भावो धर्म्मः स्वभावस्तं । केषां, पदार्थानां सुखदुःखशरीरादीनां । किंविशिष्टं सत् ज्ञानं, संवृत्तं प्रच्छादितं वस्तुयाथात्म्यप्रकाशने आभिभूतसामर्थ्यं । केन, मोहेन मोहनीयकर्म्मणो विपाकेन ।

तथा चोक्तम्—

" मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथा नैकप्रकारतः ।

कर्म्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः ॥ "

नन्वमूर्तस्यात्मनः कथं मूर्तेन कर्म्मणाभिभवो युक्त इत्यत्राह । मत्त इत्यादि यथा नैव लभते । कोऽसौ, पुमान् व्यवहारी पुरुषः । कं, पदार्थानां घटपटादीनां स्वभावं । किंविशिष्टः सन्, मत्तः जनितमदः । कैर्मदनकोद्रवैः । पुनराचार्य एव प्राह विराधक इत्यादि । यावत् स्वभावमनासादयन् विसदृशान्यवगच्छतीति । शरीरादीनां स्वरूपमलभमानः पुरुषः शरीरादीनि अन्यथाभूतानि प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।

अमुमेवार्थं स्फुटयति;—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।

सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥ ८ ॥

प्रपद्यते । कोसौ, मूढः स्वपरविवेकज्ञानहीनः पुमान् । कानि, वपुर्गृहादीनि वस्तूनि । किंविशिष्टानि, स्वानि स्वश्चात्मा स्वानि चात्मीयानि स्वानि । एकशेषश्रयणादेकस्य स्वशब्दस्य लोपः । अयमर्थो दृढतममोहाविष्टो देहादिकमात्मानं प्रपद्यते । आत्मत्वेनाभ्युपगच्छति । दृढतरमोहाविष्टश्च आत्मीयत्वेन । किंविशिष्टानि संति स्वानि प्रपद्यत इत्याह । सर्वथान्यस्वभावानि सर्वेण द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणेन प्रकारेण स्वस्वभावादन्यो भिन्नः स्वभावो

१ विजातीयेभ्योऽन्यपदार्थेभ्यः ।

येषां तानि । किं किमित्याह । वपुः शरीरं तावदचेतनत्वादिस्वभावं प्रसिद्ध-मस्ति । एवं गृहं धनं दाराः भार्याः पुत्राः आत्मजाः मित्राणि सुहृदः शत्रवो मित्राः । अत्र हितवर्गमुद्दिश्य दृष्टान्तः । अत्रैतेषु वपुरादिषु मध्ये हितानामुपकारकाणां दारादीनां वर्गो गणस्तमुद्दिश्य विषयीकृत्य दृष्टान्त उदाहरणं प्रदर्श्यते । अस्माभिरिति शेषः ।

तद्यथा;—

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे ।
स्वस्वकार्यवशाद्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥ ९ ॥

संवसंति मिलित्वा रात्रिं यावन्निवासं कुर्वन्ति । के ते, खगाः पक्षिणः । क्व क्व, नगे नगे वृक्षे वृक्षे । किं कृत्वा, एत्य आगत्य । केभ्यो, दिग्देशेभ्यः दिशः पूर्वादयो दिश देशस्तत्स्थैकदेशो अंगवंगादयस्तेभ्योऽवधिकृतेभ्यः तथा यांति गच्छन्ति । के ते खगाः । कासु, दिक्षु दिग्देशेष्विति प्राप्तेर्विपर्ययनिर्देशो गमन-नियमनिवृत्यर्थस्तेन यो यस्यामेव दिशि गच्छति यश्च यस्माद्देशादायातः स तस्मिन्नेव देशे गच्छतीति नास्ति नियमः । किं तर्हि, यत्र क्वापि यथेच्छं गच्छंतीत्यर्थः । कस्मात्, स्वस्वकार्यवशात् निजनिजकरणीयपारतंत्र्यात् । कदा कदा, प्रगे प्रगे प्रातः प्रातः । एवं संसारिणो जीवा अपि नरकादि-गतिस्थानेभ्य आगत्य कुले स्वायुःकालं यावत् संभूय तिष्ठंति तथा निजनिज-पारतंत्र्यात् देवगत्यादिस्थानेष्वनियमेन स्वायुःकालान्ते गछन्तीति प्रतीहि । कथं भद्र तव दारादिषु हितबुद्धया गृहीतेषु सर्वथान्यस्वभावेषु आत्मा-त्मीयभावः ? यदि खल्वेतदात्मकाः स्युः तदा त्वयि तदवस्थ एव कथमव-स्थान्तरं गच्छेयुः यदि च एते तावकाः स्युस्तर्हि कथं । क्व प्रयोगमंतरेणैव यत्र क्वापि प्रयांतीति मोहग्रहावेशमपसार्य यथावत्पश्येति दार्ष्टांते दर्शनीयं । अहितवर्गेऽपि दृष्टान्तः प्रदर्श्यते अस्माभिरिति योज्यम्;—

विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति ।
त्र्यंगुलं पातयन्पद्भ्यां स्वयं दंडेन पात्यते ॥ १० ॥

---

१ पराधीनतया ।

कथमित्यरुचौ न श्रद्दधे कथं परिकुप्यति समंतात् क्रुध्यति । कोऽसौ, विराधकःअपकारकर्त्ता जनः । कस्मै, हंत्रे जनाय प्रत्यपकारकाय लोकाय ।

" सुखं वा यदि वा दुःखं येन यस्य कृतं भुवि ।
अवाप्नोति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिश्चितः ॥ "

इत्यभिधानादन्योंय्यमेतदिति भावः । अत्र दृष्टान्तमाचष्टे । अंगुलमित्यादि पात्यते भूमौ क्षिप्यते । कोऽसौ, यः कश्चिदसमीक्ष्यकारी जनः । केन, दंडेन हस्तधार्यकाष्ठेन कथं स्वयं पात्य प्रेरणमंतरेणैव । किं कुर्वन्, पातयन् भूमिं प्रति नामयन् । किं तत्, ऽयंगुलं अंगुलित्रयाकारं कचाराद्याकर्षणावयवं । काभ्यां, पद्भ्यां पादाभ्यां ततोऽहिते प्रीतिरहिते चाप्रीतिः स्वहितैषिणा प्रेक्षावता न करणीया ।

अत्र विनेयः पृच्छति । हिताहितयो रागद्वेषौ कुर्वन् किं कुरुते इति दारादिषु रागं शत्रुषु च द्वेषं कुर्वाणः पुरुषः किमात्मनोहितं कार्यं करोति येन तावत् कार्यतयोपदिश्यते इत्यर्थः । अत्राचार्यः समाधत्ते;—

रागद्वेषद्वयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा ।
अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥ ११ ॥

भ्रमति संसरति । कोऽसौ, असौ जीवश्चेतनः । क, संसाराब्धौ संसारः द्रव्यपरिवर्तनादिरूपो भवोऽब्धिः समुद्र इव दुःखहेतुत्वाद्दुस्तरत्वाच्च तस्मिन् । कस्मात्, अज्ञानात् देहादिष्वात्मविभ्रमात् । कियत्कालं, सुचिरं अतिदीर्घकालं । केन, रागेत्यादि । राग इष्टे वस्तुनि प्रीतिः द्वेषश्चानिष्टेऽप्रीतिस्तयोर्द्वयी । रागद्वेषयोः शक्तिव्यक्तिरूपतया युगपत् प्रवृत्तिज्ञापनार्थं द्वयीग्रहणं, शेषदोषाणां च तद्द्वयप्रतिबद्धत्वबोधनार्थं । तथा चोक्तम्—

" यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः ।
उभावेतौ समालंब्य विक्रमत्याधिकं मनः ॥ "

---

१ अयुक्तं । २ अविचार्यकार्यकर्त्ता । ३ पंडितेन ।

अपि च । आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाश्च जायंते । सा दीर्घनेत्रमायतमंथाकर्षणपाश इव भ्रमणहेतुत्वात्तस्यापकर्षणकर्म्मजीवस्य रागादिरूपतया परिणमनं नेत्रस्यापकर्षणत्वाभिमुखानयनं तेन अत्रोपमानभूतो मंथदंड आक्षेप्यस्तेन यथा नेत्रापकर्षणव्यापारे मंथाचलः समुद्रे सुचिरं भ्रांतो लोके प्रसिद्धस्तथा स्वपरविवेकानवबोधात् । यदुद्भूतेन रागादिपरिणामेन कारणकार्योपचारात्तज्जनितकर्मबंधेन संसारस्थो जीवो अनादिकालं संसारे भ्रांतो भ्रमति भ्रमिष्यति । भ्रमतीत्यवतिष्ठंते पर्वता इत्यादिवत् नित्यप्रवृत्ते लटो विधानात् ।

उक्तं च ।

"जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो हवदि गदि सुगदी ॥ १ ॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंति ।
तेहि दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥ २ ॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालंमि ।
इदि जिणवरेहि भाणिअं अणाइणिहसणिण हण्णे वा ।" ॥ ३ ॥

अथ प्रतिपाद्यः पर्यनुयुंक्ते । तस्मिन्नपि यदि सुखी स्यात् को दोष इति भगवन् संसारेपि न केवलं मोक्ष इत्यपि शब्दार्थः । चेज्जीवः सुखयुक्तो भवेत् तर्हि को न कश्चित् दोषो दुष्टत्वं संसारस्य सर्वेषां सुखस्यैव आप्तुमिष्टत्वात् येन संसारच्छेदाय संतो यतेरन्नित्यत्राह । वत्स !

विपद्भवपदावर्ते पदिके वातिवाह्यते ।
यावत्तावद्भवंत्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः ॥ १२ ॥

यावदतिवाह्यते अतिक्रम्यते । प्रेर्यते । कासौ, विपत् सहजशारीरमानसा-

१ वर्तमानात् २ शिष्यः पृच्छति ।

गंतुकानामापदां मध्ये या काप्येका विवक्षिता आपत्। जीवेनेति शेषः। क, भवपदावर्ते भवः संसारः पदावर्त इव पादचाल्यघटीयंत्रमिव भूयोभूयो परिवर्त्तमानत्वात्। केव, पदिकेवे पादाक्रांतदंडिका यथा तावद्भवन्ति। का, अन्या अपूर्वा प्रचुरा बह्वो विपदः आपदः पुरो अग्रे जीवस्य यदि। का इव, काछिकस्येति सामर्थ्यदुर्व्या। अतो जानीहि दुःखैकनिबंधनविपत्तिनिरंतरत्वात् संसार अवश्यविनाश्यत्त्वम्।

पुनः शिष्य एवाह। न सर्वे विपद्वन्तः ससंपदोपि दृश्यंत इति भगवन् समस्ता अपि संसारिणो न विपत्तियुक्ताः सन्ति सश्रीकाणामपि केषांचित् दृश्यमानत्वादित्यत्राह;—

दुरर्ज्येनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा॥ १३॥

भवति। कोसौ, जनो लोकः। किंविशिष्टः, कोपि निर्विवेको न सर्वः। किंविशिष्टो भवति, स्वस्थंमन्यः स्वस्थमात्मानं मन्यमानो अहं सुखीति मन्यत इत्यर्थः। केन कृत्वा, धनादिना द्रव्यकामिन्यादीष्टवस्तुजातेन। किंविशिष्टेन, दुरर्जेण अपायबहुलत्वाद् दुर्ध्यानावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेनार्जित इति दुरर्जेण तथा असुरक्षेण दुस्त्राणेन यत्ततो रक्षमाणस्याप्यपायस्यावश्यभावित्वात्। तथा नश्वरेण रक्षमाणस्यापि विनाशसंभवादशाश्वतेन। अत्र दृष्टांतमाह। ज्वरेत्यादि। इव शब्दो यथार्थे यथा कोऽपि मुग्धो ज्वरवान् अतिशयेन मतेर्विनाशात् सामज्वरार्तः सर्पिषा घृतेन पानाद्युपयुक्तेन स्वस्थंमन्यो भवति। निरामयमात्मानं मन्यते ततो बुद्ध्यस्व दुरुपार्ज्यदूरक्षणभंगुरद्रव्यादिना दुःखमेव स्यात्।

उक्तं च—

"अर्थस्योपार्ज्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्॥"

---

१ आकस्मिकागत।

"भूयोपि विनेयः पृच्छति।" एवंविधां संपदां कथं न त्यजतीति। अनेन दुरर्जत्वादिप्रकारेण लोकद्वयेऽपि दुःखदां धनादिसंपत्तिं कथं न मुंचति जनः। कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ने। अत्र गुरुरुत्तरमाह;—

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमानमृगाकीर्णवनांतरतरुस्थवत् ॥ १४ ॥

नेक्षते न पश्यति। कोऽसौ, मूढो धनाद्यासक्त्या लुप्तविवेको लोकः। कां, विपत्तिं चौरादिना क्रियमाणां धनापहाराद्यापदां। कस्य, आत्मनः स्वस्य। केषामिव, परेषामिव यथा इमे विपदा आक्रम्यन्ते तथाहमप्याक्रंतव्य इति न विवेचयतीत्यर्थः। क इव, प्रदह्यमानैः दावानलज्वालादिभिर्भस्मीक्रियमाणैर्मृगैर्हरिणादिभिराकीर्णस्य संकुलस्य वनस्यांतरे मध्ये वर्तमानं। स तरुं वृक्षमारूढो जनो यथा आत्मनो मृगाणामिव विपत्तिं न पश्यति।

पुनराह शिष्यः कुत एतदिति, भगवन् कस्माद्धेतोरिदं सन्निहिताया अपि विपदो अदर्शनं जनस्य। गुरुराह। लोभादिति, वत्स धनादिगार्ध्यात्पुरोवर्त्तिनीमप्यापदं[1] धनिनो न पश्यंति। यतः—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं ।
वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनं ॥ १५ ॥

वर्तते। किं तद्धनं। किंविशिष्टं, इष्टमभिमतं। कथं, सुतरां अतिशयेन कस्माज्जीवितात्प्राणेभ्यः। केषां, धनिनां। किं कुर्वतां, वांछतां। कं, निर्गमं अतिशयेन गमनं। कस्य, कालस्य। किंविशिष्टं, आयुरित्यादि। आयुःक्षयस्य वृद्ध्युत्कर्षस्य च कालांतरवर्द्धनस्य कारणम्, अयमर्थो, धनिनां तथा जीवितव्यं नेष्टं यथा धनं। कथमन्यथा जीवितक्षयकारणमपि धनवृद्धिहेतुं कालनिर्गमं वांछंति। अतो धिग्धनम्' एवंविधव्यामोहहेतुत्वात्।

अत्राह शिष्यः। कथं धनं निंद्यं येन पुण्यमुपार्ज्यते इति पात्रदानदे-

---

१ अग्रतः स्थितामपि।

वार्चनादिक्रियायाः पुण्यहेतोर्धनं विना असंभवात् पुण्यसाधनं धनं कथं निंद्यं किं तर्हि प्रशस्यमेवातो यथा कथंचिद्धनमुपार्ज्य पात्रादौ च नियुज्य सुखाय पुण्यमुपार्जनीयमित्यत्राह;—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः ।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलंपति ॥ १६ ॥

योऽवित्तो निर्धनः सन् संचिनोति सेवाकृष्यादिकर्मणोपार्जयति । किं तद्वित्तं धनं । कस्मै, त्यागाय पात्रदानदेवपूजाद्यर्थं त्यागायेत्यस्य देवपूजाद्युपलक्षणार्थत्वात् । कस्मै त्यागः, श्रेयसे अपूर्वपुण्याय पूर्वोपात्तपापक्षयाय । यस्य तु चक्रवर्त्यादेरिवायत्नेन धनं सिध्यति स तेन श्रेयोऽर्थं पात्रदानादिकमपि करोत्विति भावः । स किं करोतीत्याह—विलंपति विलेपनं करोति । कोऽसौ, सः किंतत्स्वशरीरं । केन, पंकेन कर्दमेन । कथं कृत्वेत्याह । स्नास्यामीति । अयमर्थो, यथा कश्चिन्निर्मलमंगं स्नानं करिष्यामीति पंकेन विलंपन्नसमीक्ष्यकारी[1] तथा पापेन धनमुपार्ज्य पात्रदानादिपुण्येन क्षपयिष्यामीति धनार्जने प्रवर्तमानोऽपि । न च शुद्धवृत्त्या कस्यापि धनार्जनं संभवति । तथाचोक्तम्—

" शुद्धैर्धनैर्विवर्धंते शतामपि न संपदः ।
न हि स्वच्छांबुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिंधवः ॥ १ ॥ "

पुनराह शिष्यः भोगोपभोगायेति । भगवन् यद्येवं धनार्जनस्य पापप्रायतया दुःखहेतुत्वं धनं निंद्यं तर्हि धनं विना सुखहेतोर्भोगोपभोगस्यासंभवात्तदर्थं धनं स्यादिति प्रशस्यं भविष्यति । भोगो भोजनतांबूलादिः । उपभोगो वस्तुकामिन्यादिः । भोगाश्चोपभोगाश्च भोगोपभोगं तस्मै । अत्राह गुरुः । तदपि नेति न केवलं पुण्यहेतुतया धनं प्रशस्यमिति यत्त्वयोक्तं तदुक्तरीत्या न स्यात् । किं तर्हि भोगोपभोगार्थं तत्साधनं प्रशस्यमिति । यत्त्वया संप्रत्युच्यते तदपि न स्यात् । कुत इति चेत्, यतः ।

१ अविचारितकार्यकारी ।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥ १७ ॥

को, न कश्चित् सुधीर्विद्वान् सेवते इंद्रियप्रणालिकयानुभवति । कान्, भोगोपभोगान् ।

उक्तं च—

" तदात्वे[1]सुखसंज्ञेषु भावेष्वज्ञोऽनुरज्यते ।
हितमेवानुरुध्यंते प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः । "

कथंभूतान्, तापकान् देहेंद्रियमनःक्लेशहेतून् । क्व, आरंभे उत्पत्त्युपक्रमे । अन्नादिभोग्यद्रव्य-संपादनस्य कृष्यादिक्लेशबहुतया सर्वजनसुप्रसिद्धत्वात् । तर्हि भुज्यमानाः कामाः सुखहेतवः संभूतिसेव्यास्ते इत्याह, प्राप्तावित्यादि । प्राप्तौ इंद्रियेण संबंधे सति अतृप्तेः सुतृष्णायाः प्रतिपादकान् दायकान् । उक्तं च—

" अपि संकल्पिताः कामाः संभवंति यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥ "

तर्हि यथेष्टं भुक्त्वा तृप्तेषु तेषु तृष्णासंतापः साम्यतीति सेव्यास्ते इत्याह । अंते सुदुस्त्यजान् भुक्तिप्रांते त्यक्तुमशक्यकान् । सुभुक्तेष्वपि तेषु मनोव्यतिषंगस्य[3] दुर्निवारत्वात् । उक्तं च—

" दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः ।
ननु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्म्मणः ॥

अपि च—किमपीदं विषयमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन ।
प्रसभं[4]मनुभूय मनो भवे भवे नैव चेतयते ॥ "

ननु तत्त्वविदोपि भोगानभुक्तवंतो न श्रूयंत इति कामान् कः सेवते

१ तत्काले । २ उत्पत्ति ३ । संबंधस्य । ४ बलात्कारेण ।

सुधीरित्युपदेशः कथं श्रद्धीयत इत्याह ।काममिति। अत्यर्थं ।इदमत्र तात्पर्यं चारित्रमोहोदयात् भोगान् त्यक्तुमशक्नुवन्नपि तत्त्वज्ञा हेयरूपतया कामान्पश्यन्नेव सेवते मंदीभवन्मोहोदयस्तु ज्ञानवैराग्यभावनया करणग्रामं संयम्य सहसा स्वकार्यायोत्सहत एव । तथाचोक्तम्—

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो व्ययोयमनुषंगजं फलमिदं दशेयं मम । अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिदेशकालाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः ।

किंच यदर्थमेतदेवंविधमिति । भद्र यत्कायलक्षणं वस्तुसंतापाद्युपेतं कर्तुं कामस्त्वया प्रार्थ्यते तद्वक्ष्यमाणलक्षणमित्यर्थः । स एवंविध इति पाठः ।

तद्यथा—

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि ।
स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥ १८ ॥

वर्तते । कोऽसौ, सः कायः शरीरं । किंविशिष्टं, संततापायः नित्यक्षुधाद्युपतापः ।स क, इत्याह ।यत्संगे येन कायेन सह संबंधं प्राप्य लब्ध्वा शुचीन्यपि पवित्ररम्याण्यपि भोजनवस्त्रादिवस्तून्यशुचीनि भवंति यतश्चैवं ततस्तदर्थं तं संततापायं कायं शुचिवस्तुभिरुपकर्तुं प्रार्थना आकांक्षा तेषामेव वृथा व्यर्था केनचिदुपायेन निवारितेऽपि एकस्मिन्नपाये क्षणे क्षणे परापरापायोपनिपातसंभवात् ।

पुनरप्याह शिष्यः । तर्हि धनादिनाप्यात्मोपकारो भविष्यतीति । भगवन् संततापायतया कायस्य धनादिना यद्युपकारो न स्यात्तर्हि धनादिनापि न केवलमनशनादितपश्चरणनत्येपि शब्दार्थः । आत्मनो जीवस्योपकारोऽनुग्रहो भविष्यतीत्यर्थः । गुरुराह तन्नेति । यत्त्वया धनादिना आत्मोपकारभवनं संभाव्यते तन्नास्ति । यतः—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं ।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं ॥ १९ ॥

यदनशनादि तपोऽनुष्ठानं जीवस्य पूर्वापूर्वपापक्षपणनिवारणाभ्यामुपकाराय स्यात्तद्देहस्यापकारकं ग्लान्यादिनिमित्तत्वात् । यत्पुनर्धनादिकं देहस्य भोजनाद्युपयोगेन क्षुधाद्युपतापक्षयत्वादुपकाराय स्यात्तज्जीवस्योपार्ज्जनादौ पापजनकत्वेन दुर्गतिःदुःखनिमित्तत्वादपकारकं स्यादतो जानीहि जीवस्य धनादिना नोपकारगंधोप्यस्ति धर्म्मस्यैव तदुपकारत्वात् ।

अत्राह शिष्यः । तर्हि कायस्योपकारश्चिंत्यते इति भगवन् यद्येवं तर्हि " शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम् " इत्यभिधानात्तस्यापायनिरासाय यत्नः क्रियते न च कायस्यापायनिरासो दुःकर इति वाच्यम् । ध्यानेन तस्यापि सुकरत्वात् । तथाचोक्तम्—

" यदा त्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत् ।
एतस्य द्विगुणस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणम् ॥ "

झाणस्य ण दुल्लहं किंपीति च—अत्र गुरुःप्रतिषेधमाह तन्नेति । ध्यानेन कायस्योपकारो न चिंत्य इत्यर्थः ।

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखंडकं ।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियंतां विवेकिनः ॥ २० ॥

अस्ति । कोऽसौ, चिन्तामणिः चिंतितार्थप्रदो रत्नविशेषः । किंविशिष्टो, दिव्यो देवेनाधिष्ठितः । क्व, इत अस्मिन्नेकस्मिन् पक्षे इतश्चान्यस्मिन् पक्षे पिण्याकखण्डकं कुत्सितमल्पं वा खलखंडकमस्ति एते च उभे द्वे अपि यदि ध्यानेन लभ्येते अवश्यं लभ्येते तर्हि कथय क्व द्वयोर्मध्ये कतरस्मिन्नेकस्मिन् विवेकिनो लोभच्छेदविचारचतुरा आद्रियंतां आदरं कुर्वन्तु । तदैहिकफलाभिलाषं त्यक्त्वा आमुत्रिकफलसिद्ध्यर्थमेवात्मा ध्यातव्यः । उक्तं च—

१ रोगाद्युपविनाशे ।

" तद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिकफलार्थिनां ।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम् ॥ "

अथैवमुद्बोधितश्रद्दधानो विनेयः पृच्छति स आत्मा कीदृश इति यो युष्माभिर्ध्यातव्यतयोपदिष्टः पुमान् स किं स्वरूप इत्यर्थः गुरुराह;—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥ २१ ॥

अस्ति । कोऽसौ, आत्मा । कीदृशः, लोकालोकविलोकनः लोको जीवाद्याकीर्णमाकाशं ततोऽन्यदलोकः तौ विशेषेण अशेषविशेषनिष्ठतया लोक्यते पश्यति जानाति । एतेन "ज्ञानशून्यं चैतन्यमात्रमात्मा" इति सांख्यमतं बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमानिति योगमतं च प्रत्युक्तं । प्रतिध्वस्तश्च नैरात्म्यवादो बौद्धानां । पुनः कीदृशः, अत्यंतसौख्यवान् अनंतसुखस्वभावः एतेन सांख्ययौगतंत्रं प्रत्याहतं । पुनरपि कीदृशस्तनुमात्रः स्वोपात्तशरीरपरिमाणः । एतेन व्यापकं वटकणिकामात्रं चात्मानं वदंतौ प्रत्याख्यातौ । पुनरपि कीदृशः, निरत्ययः द्रव्यरूपतया नित्यः । एतेन गर्भादिमरणपर्यन्तं जीवं प्रतिजानानश्चार्वाको निराकृतः । ननु प्रमाणसिद्धे वस्तुन्येवं गुणवादः श्रेयान्न चात्मनस्तथा प्रमाणसिद्धत्वमस्तीत्यारेकायामाह । स्वसंवेदनसुव्यक्त इति ।

" वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः ।
तत्स्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम् । "

इत्येवंलक्षणस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण सकलप्रमाणधुर्येण सुष्ठु उक्तैश्च गुणैः संपूर्णतया व्यक्तः विशदतयानुभूतो योगिभिः स्वैकदेशेन ।

अत्राह शिष्यः यद्येवमात्मास्ति तस्योपास्तिः कथमिति स्पष्टम् आत्मसेवोपायप्रश्नोऽयम् । गुरुराह—

---

१ परिपूर्णतया । २ अभावात्मको मोक्षः ३ ब्रुवन् । ४ प्रमाणेन । ५ मुख्येन ।

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः ।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितं ॥ २२ ॥

ध्यायेत् । भावयेत् कोऽसौ, आत्मवान् गुप्तेंद्रियमना ध्यस्तस्वायत्तवृत्तिर्वा । कं, आत्मानं यथोक्तस्वभावं पुरुषं । केन, आत्मनैव स्वसंवेदनरूपेण स्वेनैव तज्ज्ञप्तौ करणांतराभावात्, उक्तं च—

" स्वपरज्ञातिरूपत्वात् न तस्य करणांतरम् ।
ततश्चिंतां परित्यज्य स्वसंविस्यैव वेद्यताम् ॥ " २ ॥

क्व तिष्ठंतमित्याह, आत्मनि स्थितं वस्तुतः सर्वभावानां स्वरूपमात्राधारत्वात् । किं, कृत्वा संयम्य रूपादिभ्यो व्यावृत्य । किं, करणग्रामं चक्षुरादींद्रियगणं । केनोपायेन, एकाग्रत्वेनं एके विवक्षितमात्मानं तं द्रव्यं पर्यायो वा अग्रं प्राधान्येनालंबनं विषयो यस्य अथवा एकं पूर्वापरपर्यायाऽनुस्यूतं[1] अग्रमात्मग्राह्यं यस्य तदेकाग्रं तद्भावेन । कस्य, चेतसो मनसः । अयमर्थो यत्र क्वचिदात्मन्येव वा श्रुतज्ञानावष्टंभात् आलंबितेन मनसा इंद्रियाणि निरुद्ध्य स्वात्मानं च भावयित्वा तत्रैकाग्रतामासाद्य चिंतां त्यक्त्वा स्वसंवेदनेनैवात्मानमनुभवेत् । उक्तं च—

" गहियं तं सुअणाणा पच्छा संवेयणेण भाविज्जा ।
जो ण हु सुवमवलंवइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावो ॥ ३ ॥ "

तथा च—

" प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितं ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानंदनिर्वृतम् ॥ ४ ॥ "

अथाह शिष्यः आत्मोपासनया किमिति भगवान्नात्मसेवनया किं प्रयोजनं स्यात् फलप्रतिपत्तिपूर्वकत्वात्प्रेक्षावत्प्रवृत्तेरिति पृष्टः सन्नाचष्टे;—

---

१ अविच्छिन्नं प्रवर्तमानं । २ ज्ञानं । ३ शृणु इत्यर्थः ।

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥ २३ ॥

ददाति । कासौ, अज्ञानस्य देहादेर्मूढभ्रांतिः संदिग्धगुर्वादेर्वा उपास्तिः सेवा । किं अज्ञानं, मोहभ्रमसंदेहलक्षणं तथा ददाति । कासौ, ज्ञानिनः स्वभावस्यात्मनो ज्ञानसंपन्नगुर्वादेर्वा समाश्रयः । अनन्यपरया सेवनं । किं, ज्ञानं स्वार्थावबोधं । उक्तं च,—

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥

को अत्र दृष्टांत इत्याह यदित्यादि ददातीत्यत्रापि योज्यं 'तुरवधारणे तेनायमर्थः संपद्यते । यद्येव यस्य स्वाधीनं विद्यते स सेव्यमान तदेव ददातीत्येतद्वाक्यं लोके सुप्रतीतमतो भद्र ज्ञानिनमुपास्य समुज्जृंभितस्वपरविवेकज्योतिरजस्रमात्मानमत्मानामात्मनि सेव्यश्च । अत्राप्याह शिष्यः । ज्ञानिनोध्यात्मस्वस्थस्य किं भवतीति निष्पन्नयोग्यपेक्षया स्वात्मध्यानफलप्रश्नोयम् । गुरुराह;—

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी ।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥ २४ ॥

जायते भवति । कासौ, निर्ज्जरा एकदेशेन संक्षयो विश्लेष इत्यर्थः । केषां, कर्म्मणां सिद्धयोग्यपेक्षयाऽशुभानां च शुभानां साध्ययोग्यपेक्षया त्वसद्वेद्यादीनां । कथमाशु सद्यः । केन, अध्यात्मयोगेन आत्मन्यात्मनः प्रणिधानेन, किं केवला, नेत्याह निरोधिनी प्रतिषेधयुक्ता कस्यास्रवस्यागमनस्य कर्मणामित्यत्रापि योज्यं । कुत इत्याह, परीषहाणां क्षुधादिदुःखभेदानामादिशब्दा देवादिकृतोपसर्गबाधानां चाविज्ञानादसंवेदनात् । तथा चोक्तम्—

" यस्य पुण्यं च पापं च निःफलं गलति स्वयम् ।
स योगी तस्य निर्व्वाणं न तस्य पुनरास्रवः " ॥ १ ॥

तथा च—

" तथा ह्यचरमांगस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा ।
निर्ज्जरा संवरश्चास्य सकलाशुभकर्म्मणां " ॥ २ ॥

अपि च—

" आत्मदेहांतरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ।
तपसा दुःकृतं घोरं भुंजानोऽपि न खिद्यते " ॥ ३ ॥

एतच्च व्यवहारनयादुच्यते । कुत इत्याशंकायां पुनराचार्य एवाह सा खलु कर्म्मणो भवति तस्य संबंधस्तदा कथमिति । वत्स आकर्णय खलु यस्मात्सा एकदेशेन विश्लेषलक्षणा निर्ज्जरा कर्म्मणः चित्सामान्यानुविधायिपुद्गलपरिणामरूपस्य द्रव्यकर्मणः संबंधिनी संभवति द्रव्ययोरेव संयोगपूर्वविभागसंभवात् तस्य च द्रव्यकर्म्मणस्तदा योगिनः स्वरूपमात्रावस्थानकाले संबंधः प्रत्यासत्तिरात्मना सह । कथं केन संयोगादिप्रकारेण संभवति सूक्ष्मेक्षिकया समीक्ष्यस्व न कथमपि संभवतीत्यर्थः । यदा खल्वात्मैव ध्यानं ध्येयं च स्यात्तदा सर्वात्मनाप्यात्मनः परद्रव्याद् व्यावृत्य स्वरूपमात्रावस्थितत्वात्कथं द्रव्यांतरेण संबंधः स्यात्तस्य द्विष्ठत्वात् । न चैतत्संसारिणो न संभवतीति वाच्यं । संसारतीरप्राप्तस्यायोगिनो मुक्तात्मवत्पंच ह्रस्वस्वरोच्चारणकालं यावत्तथावस्थानसंभवात् कर्म्मक्षपणाभिमुखस्य लक्षणोत्कृष्टशुक्लुलेश्यासंस्कारावेशवशात्तावन्मात्रकर्म्मपारतंत्र्यव्यवहरणात् । तथा चोक्तं परमागमे—

" सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ।।"

श्रूयतां चास्यैवार्थस्य संग्रहश्लोकः ।

कटस्य कर्त्ताहमिति संबंधः स्याद् द्वयोर्द्वयोः ।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव संबंधः कीदृशस्तदा ॥ २५ ॥

स्याद् भवेत् । कोसौ, संबंधः द्रव्यादिना प्रत्यासत्तिः । कयोर्द्वयोः कथंचिद्-भिन्नयोः पदार्थयोः इति अनेन लोकप्रसिद्धेन प्रकारेण कथमिति यथाहमस्मि । कीदृशः, कर्त्ता निर्माता । कस्य, कटस्य वंशदलानां जलादिप्रतिबंधाद्यर्थस्य परिणामस्य । एवं संबंधस्य द्विधतां प्रदर्श्य प्रकृतेर्व्यतिरेकमाह । ध्यानमित्यादि ध्यायते येन ध्यायति वा यस्तद्ध्यानं ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्त्ता वा । उक्तंच;—

" ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा ।"

ध्यायत इति ध्येयं चाध्याति क्रिययाध्याप्यं । यदा यस्मिन्नात्मनः परमात्मना सहैकीकरणकाले आत्मैव चिन्मात्रमेव स्यात्तदा कीदृशः संयोगादिप्रकारः संबंधो द्रव्यकर्मणा सहात्मनः स्यात् येन जायतेध्यात्मयोगेन कर्म्मणामाशु निर्ज्जरेति परमार्थतः कथ्यते । अत्राह शिष्यः—तर्हि कथं बंधस्तत्प्रतिपक्षश्च मोक्ष इति भगवन् यद्यात्मकर्मद्रव्ययोरध्यात्मयोगेन विश्लेषः क्रियते तर्हि कथं केनोपायप्रकारेण तयोर्बंधः परस्परप्रदेशानुप्रवेशलक्षणः संश्लेषः स्यात् । तत्पूर्वकत्वाद्विश्लेषस्य कथं च तत्प्रतिपक्षो बंधविरोधी मोक्षः सकलकर्मविश्लेषलक्षणो जीवस्य स्यात्तस्यैवानंतरसुखहेतुत्वेन योगिभिः प्रार्थनीयत्वात् । गुरुराह—

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥ २६ ॥

ममेत्यव्ययं ममेदमित्यभिनिवेशार्थमव्ययानामनेकार्थत्वात् तेन सममो ममेदमित्यभिनिवेशाविष्टो अहमस्येत्यभिनिवेशाविष्टश्चोपलक्षणत्वात् जीवः कर्मभिर्बध्यते । तथा चोक्तम्—

"न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा ।
न चापि करणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ॥"

यदैक्यमुपयोगभूसमुपरौ अतिरागादिभिः स एव किल केवलं भवति

बन्धहेतुर्नृणां । तथा स एव जीवो निर्ममस्तद्विपरीतस्तैर्मुच्यत इति यथासंख्येन योजनार्थं क्रमादित्युपात्तं । उक्तं च—

" अकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ "

अथवा " रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागी विमुंचति ।
जीवो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः ॥ "

यस्मादेवं तस्मात्सर्वप्रयत्नेन व्रताद्यवधानेन मनोवाक्कायप्रणिधानेन वा निर्ममत्वं विचिन्तयेत् मत्तः कायादयोऽभिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः नाहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन इत्यादि श्रुतज्ञानभावनया मुमुक्षुर्विशेषेण भावयेत् । उक्तं च—

" निर्वृत्तिं भावयेद्यावन्निर्वृत्तिं तदभावतः ।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययं ॥ "

अथाह शिष्यः । कथं नु तदिति निर्ममत्वविचिंतनोपायप्रश्नोऽयं अथ गुरुस्तत्प्रक्रियां मम विज्ञस्य का स्पृहेति यावदुपदिशति—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ २७ ॥

द्रव्यार्थिकनयादेकः पूर्वापरपर्यायानुस्यूतो निर्ममो ममेदमहमस्येत्यभिनिवेशशून्यः शुद्धः शुद्धनयादेशाद्द्रव्यभावकर्मनिर्मुक्तो ज्ञानी स्वपरप्रकाशनस्वभावो योगींद्रगोचरोऽनंतपर्यायविशिष्टतया केवलिनां शुद्धोपयोगमात्रमयत्वेन श्रुतकेवलिनां च संवेद्योहमात्मास्मि ये तु संयोगाद्द्रव्यकर्मसंबंधाद्याता मया सह संबंधं प्राप्ता भावा देहादयोस्ते सर्वेऽपि मत्तो मत्सकाशात्सर्वथा सर्वेण द्रव्यादिप्रकारेण बाह्या भिन्नाः संति पुनर्भावक

१ सावधानेन । २ परद्रव्यात् व्यावृत्य । ३ निर्ममत्वसाधनं । ४ प्रथमोत्तमदेहसंचारी ।

एवं विमृशति संयोगात्किमिति देहादिभिः संबंधाद्देहिनां किं फलं स्यादित्यर्थः । तत्र स्वयमेव समाधत्ते;—

दुःखसंदोहभागित्वं संयोगादिह देहिनाम् ।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ २८ ॥

दुःखानां संदोहः समूहस्तद्भागित्वं देहिनामिह संसारे संयोगाद्देहादिसंबंधाद्भवेत् । यतश्चैवं तत एनं संयोगं सर्वं निःशेषं त्यजामि । कैः क्रियमाणं, मनोवाक्कायकर्मभिर्मनोवर्गणाद्यालम्बनैरात्मप्रदेशपरिस्पंदैस्तैरेव त्यजामि । अयमभिप्रायो मनोवाक्कायान्प्रातिपरिस्पंदमानानात्मप्रदेशान् भावतो निरुंद्धामि । तद्भेदाभेदाभ्यासमूलत्वात्सुखदुःखैकफलनिर्वृत्तिसंसृत्योस्तथा चोक्तं—

" स्वबुद्ध्या यत्तु गृह्णीयात्कायवाक्चेतसां त्रयं ।
संसारस्तावदेतेषां तदाभ्यासेन निर्वृतिः ॥ "

पुनः स एवं विमृशति[1] पुद्गलेन किल संयोगस्तदपेक्षामरणादयस्तद्व्यथाः कथं परिह्रियंत इति । पुद्गलेन देहात्मना मूर्तद्रव्येण सह किल आगमे श्रूयमाणो[2] जीवस्य संबन्धोऽस्ति[3] तदपेक्षाश्च[4] पुद्गलसंयोग निमित्त जीवस्य मरणादयो मृत्युरोगादयः संभवंति । तद्यथा मरणादयः संभवंति मरणादिसंबंधिन्यो बाधा । कथं, केन भावनाप्रकारेण मया परिह्रियंते । तदभिभवैः[5] कथं निवार्यंत इत्यर्थः । स्वयमेव समाधत्ते;—

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृऽद्धोहं न युवैतानि पुद्गले ॥ २९ ॥

न मे एकोऽहमित्यादिना निश्चितात्मस्वरूपस्य मृत्युः प्राणत्यागो नास्ति । चिच्छक्तिलक्षणभावप्राणानां कदाचिदपि त्यागाभावात् यतश्च मे मरणं नास्ति ततः कुतः कस्मात्मरणकारणात्कृष्णसर्पादेर्भीतिर्भयं मम

१ विचारयति । २ सेवितं । ३ देहात्मनः । ४ संयोगापेक्षा । ५ पराभवः ।

स्यान्न कुतश्चिदपि बिभेमीत्यर्थः । तथा व्याधिर्वातादिदोषवैषम्यं मम नास्ति मूर्त्तसंबंधित्वाद्वातादीनां । यतश्चैवं ततः कस्मात् ज्वरादि विकारात् मम व्यथा स्यात्तथा बालाद्यवस्थो नाहमस्मि ततः कथं बालाद्यवस्थाप्रभवैः दुःखैरभिभूयेयं अहमिति सामर्थ्यादत्र द्रष्टव्यं । तर्हि क मृत्युप्रभृतीनि स्युरित्याह—एतानि मृत्युव्याधिबालादीनि पुद्गले मूर्त्ते देहादावेव संभवन्ति । मूर्त्तिधर्मत्वादमूर्त्ते मयि तेषां नितरामसंभवात् । भूयोऽपि भावक एव स्वयमाशंकते तर्ह्येतान्यासाद्य मुक्तानि पश्चात्तापकारीणि भविष्यंतीति यद्युक्तनीत्या भयादयो मे न भवेयुस्तर्हि एतानि देहादिवस्तून्यासाद्य जन्मप्रभृत्यात्मात्मीयभावेन प्रतिपद्य मुक्तानीदानीं भेदभावनावष्टंभान्मया त्यक्तानि । चिराभ्यस्ताभेदसंस्कारवशात्पश्चात्तापकराणि किमितीमानि मयात्मीयानि त्यक्तानीत्यनुशयकरीणि मम भविष्यंति । अत्र स्वयमेव प्रतिषेधमनुध्यायति[1] तन्नेति यतः—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥ ३० ॥

मोहादविद्यावेशवशादनादिकालं कर्मादिभावेनोपादाय सर्वे पुद्गलाःमया संसारिणा जीवेन वारं वारं पूर्वमनुभूताः पश्चाच्च नीरसीकृत्य त्यक्ता यतश्चैवं तत उच्छिष्टेष्विव भोजनगंधमाल्यादिषु स्वयं भुक्त्वा त्यक्तेषु यथा लोकस्य तथा मे संप्रति विज्ञस्य तत्त्वज्ञानपरिणतस्य तेषु फेलाकल्पेषु पुद्गलेषु का स्पृहा ? न कदाचिदपि । वत्स ! त्वया मोक्षार्थिना निर्ममत्वं विचिंतयिव्यं । अत्राह शिष्यः । अथ कथं ते निबध्यंत इति । अथेति प्रश्ने केन प्रकारेण पुद्गला जीवेन नियतमुपादयिंते इत्यर्थः । गुरुराह—

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः ।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति ॥ ३१ ॥

---

१ दुःखितो भवामि । २ करोति । ३ उच्छिष्टः । ४ निश्चित । ५ बहुतरत्वे ।

“ कत्थवि वलिओ जीवो कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइ वइराइ॥ ” इत्यभिधानात्पूर्वोपार्जितं बलवत्कर्म कर्मणः स्वस्यैव हितमाबध्नाति जीवस्यौदयिकादिभावमुद्राख्यं नवनवकर्माधायकत्वेन स्वसंतानं पुष्णातीत्यर्थः । तथाचोक्तं—

“ जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमंतेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १ ॥
परिणममानस्य चिदश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ २ ॥

तथा जीवः कालादिलब्ध्या बलवानात्मा जीवस्य स्वस्यैव हितमनंतसुखहेतुत्वेनोपकारकं मोक्षमाकांक्षति । अत्र दृष्टांतमाह-स्वस्वेत्यादि । निजानिजमाहात्म्यबहुतरत्वे सति स्वार्थं स्वस्योपकारकं वस्तु को न वांछति सर्वोप्यभिलषतीत्यर्थः । ततो विद्धि कर्माविष्टो जीवः कर्म संचिनोतीति । यतश्चैवं ततः—

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥ ३२ ॥

परस्य कर्मणो देहादेर्वा अविद्यावशात् क्रियमाणमुपकारं विद्याभ्यासेन त्यक्त्वात्मानुग्रहप्रधानो भव त्वं । किंकुर्वन्सन्, उपकुर्वन् । कस्य, परस्य सर्वथा स्वस्माद्बाह्यस्य दृश्यमानस्येंद्रियैरनुभूयमानस्य देहादेः । किंविशिष्टो यतस्त्वं अज्ञस्तत्त्वानभिज्ञः किंवल्लोकवत् । यथा लोकः परं परत्वेनाजानंस्तस्योपकुर्वन्नपि तं तत्त्वेन ज्ञात्वा तदुपकारं त्यक्त्वा स्वोपकारपरो भवत्येवं त्वमपि भवेत्यर्थः । अथाह शिष्यः । कथं तयोर्विशेष इति केनोपायेन स्वपरयोर्भेदो विज्ञायेत । तद्धि ज्ञातुश्च किं स्यादित्यर्थः । गुरुराह;—

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं ।
जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरम् ॥ ३३ ॥

---

१ प्रकाश्य । २ कर्तृत्वेन । ३ उपकारं कुर्वन् । ४ ‘ अभ्यासा ’ इत्यपि पाठः ।

यो जानाति । किं तत्स्वपरांतरं आत्मपरयोर्भेदं यः स्वात्मानं परस्माद्भिन्नं पश्यतीत्यर्थः। कुतः संवित्तेर्लक्षणतः स्वलक्षानुभवात्। एषोपि कुतः, अभ्यासात् अभ्यासभावनातः । एषोऽपि गुरूपदेशात् धर्माचार्यस्यात्मनश्च सुदृढ-स्वपरविवेकज्ञानोत्पादकवाक्यात् स तथान्योपोढस्वात्मानुभविता मोक्षसौख्यं निरंतरमविछिन्नमनुभवति । कर्मविविक्तानुभोक्त्यविनाभाविस्वात्तस्य । तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने,—

"तमेवानुभवंश्चायमैकाग्रयं परमृच्छाति ।
तथात्माधीनमानंदमतिवाचामगोचरम् । इत्यादि ॥"

अथ शिष्यः पृच्छति—कस्तत्र गुरुरिति तत्र मोक्षसुखानुभवविषय। गुरुराह,—

स्वस्मिन्सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः ।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥ ३४ ॥

यः खलु शिष्यः सदा अभीक्ष्णं कल्याणमभिलषति तेन जिज्ञास्य तदुपायं तं ज्ञापयाति तत्र चाप्रवर्त्तमानं तं प्रवर्त्तयति स किल गुरुः प्रसिद्धः। एवं च सत्यात्मनः आत्मैव गुरुः स्यात् । कुत इत्याह—स्वयमात्मना स्वस्मिन्मोक्षसुखाभिलाषिण्यात्मनि सत् प्रशस्तं मोक्षसुखमभीक्ष्णमभिलषति । मोक्षसुखं मे संपद्यतामित्याकांक्षतीत्येवं भमात् । तथाभीष्टस्यात्मना जिज्ञास्यमानस्य मोक्षसुखोपायस्यात्मविषये ज्ञापकत्वादेष मोक्षसुखोपायो मया सेव्य इति बोधकत्वात् । तथाहि तं मोक्षसुखोपाये स्वयं स्वस्य प्रयोक्तृ-त्वात् । अस्मिन्सुदुर्लभे मोक्षसुखोपाये दुरात्मन्नात्मन्स्वयमद्यापि न प्रवृत्तः इति । तत्राप्रवर्त्तमानस्यात्मनः प्रवर्त्तकत्वात् । अथ शिष्यः साक्षेपमाह। एवं नान्योपास्तिः प्राप्नोतीति भगवन्नुक्तनीत्या परस्परगुरुत्वे निश्चिते सति

१ पुरुष. । २ परस्माद्भिन्न । ३ ज्ञातुमिष्टं । ४ अनुभवितुं वांछितस्य । ५ आत्मानं ।

धर्माचार्यादिसेवनं प्राप्नोति मुमुक्षुं । मुमुक्षुणा धर्माचार्यादिः सेव्यो न भवतीति भावः । न चैवमेतदिति वाच्यमपसिद्धांतप्रसंगादिति वदंतं प्रत्याह;—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति ।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

भद्र ! अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभव्यादिर्विज्ञत्त्वं तत्वज्ञत्वं धर्माचार्याद्युपदेशसहस्रेणापि न गच्छति । तथाचोक्तं—

" स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रियागुणमपेक्ष्यते ।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥ "

तथा विज्ञस्तत्त्वज्ञानपरिणतो अज्ञत्वं तत्त्वज्ञानात्परिभ्रंशमपायसहस्रेणापि न गच्छति । तथाचोक्तं—

" वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोके
मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलंति योगात् ।
बोधप्रदीपहतमोहमहांधकाराः
सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥ "

नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह । अन्यः पुनर्गुरुविपक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्पादभ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्यात्तत्र योग्यतायाः एव साक्षात्साधकत्वात् । कस्याः को यथेत्यत्राह गतेरित्यादि । अयमर्थो यथा युगपद्भाविगतिपरिणामोन्मुखानां भावानां स्वकीया गतिशक्तिरेव गतेः साक्षाज्जनिका तद्वैकल्ये तस्याः केनापि कर्तुमशक्यत्वात् । धर्मास्तिकायस्तु गत्युपग्राहकद्रव्यविशेषस्तस्याः सहकारिकारणमात्रं स्यादेवं प्रकृतेऽपि अतो व्यवहारादेव गुर्वादेः शुश्रूषा प्रतिपत्तव्या । अथाह शिष्यः । अभ्यासः कथमिति । अभ्यासप्रयोगोपायप्रश्नोऽयं । अभ्यासः कथ्यत इति क्वचि-

१ प्रारब्धवस्तु । २ सामर्थ्यस्य ।

त्पाठः। तत्राभ्यासः स्यात् भूयो भूयः प्रवृत्तिलक्षणत्वेन सुप्रसिद्धत्वात्तस्य स्थाननियमादिरूपेणोपदेशः क्रियत इत्यर्थः। एवं संवित्तिरुच्यत इत्युत्तरपातनिकाया अपि व्याख्यानमेतत्पाठापेक्षया द्रष्टव्यं। तथा च गुरोरवैते वाक्ये व्याख्येये। शिष्यबोधार्थं गुरुराह;—

अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्त्वसंस्थितिः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः॥ ३६॥

अभ्यस्येद्भावयेत्कोसौ, योगी संयमी। किं, तत्त्वं याथात्म्यं। कस्य, निजात्मनः। केन, अभियोगेन आलस्यनिद्रादिनिरासेन। क्व, एकांते योग्यशून्यगृहादौ। किंविशिष्टः सन्, अभवन्नजायमानश्चित्तस्य मनसो विक्षेपो रागादिसंक्षोभो यस्य सोऽयमित्थंभूतः सन्। किंभूतो भूत्वा, तथाभूत इत्याह। तत्त्वसंस्थितस्तत्त्वे हेये उपादेये च गुरूपदेशान्निश्चलधी यदि वा तत्त्वेन साध्ये वस्तुनि सम्यक् स्थितो यथोक्तकायोत्सर्गादिना व्यवस्थितः। अथाह शिष्यः संवित्तिरिति अभ्यासः कथमित्यनुवर्त्यते नायमर्थः संयम्यते। भगवन्नुक्तलक्षणा संवित्तिः प्रवर्तमाना केनोपायेन योगिनो विज्ञायते कथं च प्रतिक्षणं प्रकर्षमापद्यते। अत्राचार्यो वक्ति। उच्यत इति। धीमन्नाकर्णय वर्ण्यते तल्लिंगं तावन्मयेत्यर्थः।

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि॥ ३७॥

येन येन प्रकारेण संवित्तौ विशुद्धात्मस्वरूपं सांमुख्येनागच्छति योगिनः तथा तथानायासलभ्या अपि रम्येंद्रियार्थाः भोग्यबुद्धिं नोत्पादयंति। महासुखलब्धावल्पसुखकारणानां लोकेऽप्यनादरणीयत्वदर्शनात्। तथा चोक्तं—

" शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमंग पुनरंगमंगाराः॥ १॥ "

अतो विषयारुचिरेव योगिनः स्वात्मसंवित्तेर्गमिका[1] तदभावे तदभावात् प्रकृष्यमाणायां च विषयारुचौ स्वात्मसंवित्तिः प्रकृष्यते । तद्यथा—

यथा यथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि ।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

अत्रापि पूर्ववद्व्याख्यानं । तथा चोक्तम्—

" विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन्पश्य षण्मासमेकं ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः ॥ "

प्रकृष्यमाणायां च स्वात्मसंवित्तौ यानि चिह्नानि स्युस्तान्याकर्णय । यथा—

निशामयति निःशेषमिंद्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥ ३९ ॥

योगीत्यंतदीपकत्वात्सर्वत्र योऽज्यः । स्वात्मसंवित्तिरसिको ध्याता चराचरं बहिर्वस्तुजातमवश्योऽपेक्षणीयतया हानोपादानबुद्धिविषयत्वादिंद्रजालिकोपदर्शितसर्पहारादिपदार्थसार्थसदृशं पश्यति । तथात्मलाभाय स्पृहयति चिदानंदस्वरूपमात्मानं संवेदयितुमिच्छति । तथा अन्यत्र स्वात्मव्यतिरिक्ते यत्र क्वापि वस्तुनि पूर्वसंस्कारादिवशात्मनोवाक्कायैर्गत्वा व्यापृत्य अनुतप्यते स्वयमेव आः कथं मयेदमनात्मीनमनुष्ठितमिति पश्चात्तापं करोति । तथा,—

इच्छत्येकांतसंवासं निर्जनं जनितादरः ।
निजकार्यवशात्किंचिदुक्त्वा विस्मरति द्रुतं ॥ ४० ॥

एकांते स्वभावतो निर्जने गिरिगहनादौ संवासं गुर्वादिभिः सहावस्थान–

१ प्रकाशकर्ता । २ तस्यात्मसंवित्तेरभावाद्विषयरुचेरप्यभावः । ३ उत्कृष्टा या । ४ प्रकृष्टा भवति । ५ अवलोकयति । ६ परिहरणीयत्वात् । ७ आत्मनोऽहितम् ।

मभिलषति । किं विशिष्टः सन्, जनितादरः जनमनोरंजनचमत्कारि मंत्रादि प्रयोगवार्त्तानिर्वृत्तौ कृतप्रयत्नः । कस्मै निर्जनं जनाभावाय स्वार्थवशाल्लाभालाभादि प्रश्नार्थं लोकमुपसर्प्यंतं निषेधमित्यर्थः । ध्यानाद्धि लोकचमत्कारिणः प्रत्ययाः स्युः । तथा चोक्तं,—

गुरूपदेशमासाद्य समभ्यस्यन्ननारतं ।
धारणा सौष्ठवाध्यानप्रत्ययानपि पश्यति ॥ ”

तथा स्वस्वावश्यकरणीयभोजनादिपारतंत्र्यात्किंचिदल्पमसमग्रं श्रावकादिकं प्रति अहो इति अहो इदमिति अहो इदं कुर्वन्नित्यादि भाषित्वा तत्क्षण एव विस्मरति । भगवन् किमादिश्यत इति श्रावकादौ पृच्छति सति न किमप्युत्तरं ददाति । तथा;—

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति ।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४१ ॥

स्थिरीकृतात्मतत्त्वो दृढप्रतीतिगोचरीकृतस्वस्वरूपो योगी संस्कारवशात्परोपरोधेन ब्रुवन्नपि धर्मादिकं भाषमाणोऽपि न केवलं योगेन तिष्ठति ह्यपिशब्दार्थः । न ब्रूते हि न भाषत एव । तत्राभिमुख्याभावात् । उक्तं च—

“ आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरं ।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यासतत्परः ॥ ”

तथा भोजनार्थं व्रजन्नपि न व्रजत्यपि । तथा सिद्धप्रतिमादिकमवलोकयन्नपि नावलोकयत्येव । तुरेवार्थः । तथा—

किमिदं कीदृशं कस्य कस्मात्क्वेत्यविशेषयन् ।
स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥ ४२ ॥

इदमध्यात्ममनुभूयमानं तत्त्वं किं किंरूपं कीदृशं केन सदृशं कस्य स्वामिकं कस्मात्कस्य सकाशात्क्व कस्मिन्नस्तीत्यविशेषयन् अविकल्पयन्सन्

---

१ आगच्छंतं । २ श्रेष्ठत्वात् । ३ आत्मशरीरयोः । ४ पराधीनतया ।

योगपरायणः समरसीभावमापन्नो योगी स्वदेहपि न चेतयति का कथा हिताहितदेहातिरिक्तवस्तुचेतनायाः । तथा चोक्तं—

" तदा च परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ॥ "

अत्राह शिष्यः—कथमेतदिति । भगवन् विस्मयो मे कथमेतदवस्थांतरं संभवति । गुरुराह—धीमान्निबोधे ।

यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिं ।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥ ४३ ॥

यो जनो यत्र नगरादौ स्वार्थे सिद्ध्यंगत्वेन बद्धनिर्बंधवास्तव्यो भवन् तिष्ठति स तस्मिन्नन्यस्मान्निवृत्तचित्तत्वान्निर्वृतित्वं लभते । यत्र यश्च तथा निर्वाति स ततोऽन्यत्र न यातीति प्रसिद्धं प्रतीतमतः प्रतीहि योगिनोऽध्यात्मं निवसतोननुभूतापूर्वानंदानुभवादन्यत्र वृत्त्यभावः स्यादिति । अन्यत्राप्रवर्त्तमानश्चेद्दक् स्यात्—

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते ।
अज्ञाततद्विशेषस्तु बद्धयते न विमुच्यते ॥ ४४ ॥

स्वात्मतत्त्वनिष्ठोऽन्यत्र अगच्छन्नप्रवर्तमानस्तस्य स्वात्मनाऽन्यस्य देहादविशेषाणां सौंदर्यासौंदर्यादिधर्माणामनभिज्ञ आभिमुख्येनाप्रतिपत्ता च भवति । अज्ञाततद्विशेषः पुनस्तत्रा जायमानरागद्वेषत्वात्कर्म भिर्नबध्यते किं तर्हि विशेषेण व्रताद्यनुष्ठातृभ्योऽतिरेकेण तैमुचते । किं च

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं ।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥ ४५ ॥

परो देहादिरर्थः पर एव कथंचिदपि तस्यात्मीकर्त्तुमशक्यत्वात् यतश्चैवं ततस्तस्मादात्मन्यारोप्यमाणादुःखमेव स्यात्तद्द्वारत्वाद्दुःखनिमित्तानां प्रवृत्तेः ।

१ जानीहि । २ निष्पत्तिनिमित्तं । ३ स्थिति— । ४ अज्ञाता । ५ अधिकतया ।

तथा आत्मा आत्मैव स्यात् । तस्य कदाचिदपि देहादिरूपत्वानुपादानात् । यतश्चैवं ततस्तस्मात्सुखं स्याद्दुःखनिमित्तानां तस्याविषयत्वात् । यतश्चैवं अत एव महात्मानस्तीर्थंकरादयस्तस्मिन्निमित्तमात्मार्थं कृतोद्यमा[1] विविहिततापानुष्ठानाभियोगाः[2] संजाताः । अथ परद्रव्यानुरागो दोषं दर्शयति;—

अविद्वान्पुद्गलद्रव्यं योऽभिनंदति तस्य तत् ।
न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुंचति ॥ ४६ ॥

यः पुनरविद्वान् हेयोपादेयतत्त्वानभिज्ञः पुद्गलद्रव्यं देहादिकमभिनंदति श्रद्धत्ते आत्मात्मीयभावेन प्रतिपद्यते तस्य जंतोर्जीवस्य तत्पुद्गलद्रव्यं चतसृषु नारकादिगतिषु सामीप्यं प्रत्यासत्तिं संयोगसंबंधं जातु कदाचिदपि न त्यजति । अथाह शिष्यः–स्वरूपपरस्य किं भवतीति सुगमं । गुरुराह—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः ।
जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥

आत्मनोऽनुष्ठानं देहादेर्व्यावर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापनं तत्परस्य व्यवहारात्प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणाद्बहिःस्थितेः बाह्यस्य योगिनो ध्यातुर्योगेन स्वात्मध्यानेन हेतुना कश्चिद् वाचागोचरः परमोऽनन्यसंभवी आनंद उत्पद्यते । तत्कार्यमुच्यते—

आनंदो निर्दहत्युद्धं कर्मेंधनमनारतं ।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥ ४८ ॥

स पुनरानंद उद्धं प्रभूतं कर्मसंततिं निर्दहति । वह्निरिंधने यथा । किं च असावानंदाविष्टो योगी बहिर्दुःखेषु परीषहोपसर्गक्लेशेषुअचेतनोसंवेदनः स्यात्तत एव न खिद्यते न संक्लेशं याति । यस्मादेवं तस्मात्—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् ।
तत्प्रष्टव्यंतदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥ ४९ ॥

---

१ आत्मनः । २ आग्रहाः ।

तदानंदस्वभावं ज्ञानमयं स्वार्थावभासात्मकं परमुत्कृष्टमविद्याभिदुरं विभ्रमच्छेदकं महत् विपुलं इंद्रादीनां पूज्यं वा ज्योतिः प्रष्टव्यं मुमुक्षुभिर्गुर्वादिभ्योऽनुयोक्तव्यं । तथा तदेव एष्टव्यं अभिलषणीयं तदेव च द्रष्टव्यमनुभवनीयं। एवं व्युत्पाद्यं विस्तरतो व्युत्पाद्य उक्तार्थतत्त्वं परमकरुणया संगृह्य तन्मनसि संस्थापयितुकामः सूरिरिदमाह । किंबहुनेति। हे सुमते किं कार्यं बहुनोक्तेन हेयोपादेयतत्त्वयोः संक्षेपेणापि प्राज्ञचेतसि निवेशयितुं शक्यत्वादिभावः ।

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः ।
यदन्यदुच्यते किंचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥ ५० ॥

जीवो देहादेर्भिन्नो देहादिश्च जीवाद्भिन्न इतीयानेव असौ विधीयते आत्मनस्तत्त्वस्य भूतार्थस्य संग्रहः सामस्त्येन ग्रहणं निर्णयः स्यात् । यत्पुनरितस्तत्त्वसंग्रहादन्यद्व्यतिरिक्तं किंचिद्भेदप्रभेदादिकं विस्तररुचिशिष्यापेक्षयाचार्यैरुच्यते। स तस्यैव विस्तरो व्यासो यस्तु तमपि वयमभिनंदाम इति भावः।

आचार्यः शास्त्राध्ययनस्य साक्षात्पारंपर्येण च फलं प्रतिपादयति;—

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्
मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य ।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा
मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥ ५१ ॥

इत्यनेन प्रकारेण इष्टोपदेशं इष्टं सुखं तत्कारणत्वान्मोक्षस्तदुपायत्वाच्च स्वात्मध्यानं उपदिश्यते यथावत्प्रतिपाद्यते अनेनास्मिन्निति वा इष्टोपदेशो नाम ग्रंथस्तं सम्यग्व्यवहारनिश्चयाभ्यामधीत्य पठित्वा चिंतयित्वा च धीमान् हिताहितपरीक्षादक्षो भव्योऽनंतज्ञानाद्याविर्भावयोग्यो

१ शिष्यं २ पंडितं कृत्वा । ३ इयत्प्रमाणा एव । ४ विस्तरमपि । ५ श्रद्दध्महे ।

जीवः मुक्तिश्रियमनंतज्ञानादिसंपदं निरूपमामनौपम्यां प्राप्नोति । किं कुर्वन्मुक्ताग्रहो वर्जितबहिरर्थाभिनिवेशः सन् सजने ग्रामादौ वने वाऽरण्ये विनिवसन् विधिपूर्वकं तिष्ठन् । किं कृत्वा, वितन्य विशेषेण विस्तार्य । कां, माने महत्त्वाधाने अपमाने च महत्त्वखंडने समतां रागद्वेषयोरभावं कस्माद्धेतोः, स्वमतात् इष्टोपदेशाध्ययनचिंतनजनितादात्मज्ञानात् । उक्तंच—

" यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः ।
तदैव भावये त्स्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात् ॥ इति श्रेयः ।

विनेयेंदुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना ।
इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता ॥ १ ॥

उपशम इव मूर्त्तः सागरेंदुमुनीन्द्रादजनि विनयचंद्रः सच्चकोरैकचंद्रः ।
जगदमृतसगर्भाशास्त्रसंदर्भगर्भः शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य धिन्वंति[1] वाचः ॥२॥

जयंति जगतीवंद्या श्रीमन्नेमिजिनांह्रयः ।
रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहंति यदाश्रिताः ॥ ३ ॥

इति श्रीपूज्यपादस्वामिविरचितः इष्टोपदेशः समाप्तः ॥

---

१ प्रीणयंति ।

श्रीमद्भट्टारक-इन्द्रनन्दि-प्रणीतो

नीतिसारः ।

प्रणम्य त्रिजगन्नाथानिन्द्रनन्दितसंपदः ।
अनगारान्प्रवक्ष्यामि नीतिसारसमुच्चयम् ॥ १ ॥

भरते पंचमे काले नानासंघसमाकुलम् ।
वीरस्य शासनं जातं विचित्राः कालशक्तयः ॥ २ ॥

स्वर्गं गते [2]विक्रमार्के भद्रबाहौ च योगिनि ।
प्रजाः स्वच्छन्दचारिण्यो बभूवुः पापमोहिताः ॥ ३ ॥

यतीनां [3]ब्रह्मनिष्ठानां परमार्थविदामपि ।
[4]स्वपराध्यवसायत्वमाविरासीदतिक्रमम् ॥ ४ ॥

तदा सर्वोपकाराय जातिसंकरभीरुभिः ।
महर्द्धिकैः परं चक्रे ग्रामाद्यभिधया कुलम् ॥ ५ ॥

तदैव यतिराजोऽपि सर्वनैमित्तिकाग्रणीः ।
अर्हद्बलिगुरुश्चक्रे संघसंघट्टनं परम् ॥ ६ ॥

सिंहसंघो नंदिसंघः सेनसंघो महाप्रभः ।
देवसंघ इति स्पष्टं स्थानस्थितिविशेषतः ॥ ७ ॥

गणगच्छादयस्तेभ्यो जाताः स्वपरसौख्यदाः ।
न तत्र भेदः कोऽप्यस्ति प्रव्रज्यादिषु कर्मसु ॥ ८ ॥

---

१ इत्यत्र कविना स्वनामापि प्रकाशितं २ विक्रमादित्यनृपतौ ३ आत्मनिष्ठानां ४ चित्ताभिप्रायत्वम् ।

कियत्यपि ततोऽतीते काले श्वेताम्बरोऽभवत् ।
द्राविडो यापनीयश्च काष्ठासंघश्च मानतः ॥ ९ ॥
गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः ।
निःपिंछश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्त्तिताः ॥ १० ॥
स्वस्वमत्यनुसारेण सिद्धांतं व्यभिचारिणाम् ।
विरच्य जिनेन्द्रस्य मार्गं [1]निर्भेदयन्ति ये ॥ ११ ॥
चतुःसंगे नरो यस्तु कुरुते भेदभावनाम् ।
सः सम्यग्दर्शनातीतः संसारे संचरत्यरम् ॥ १२ ॥
नाऽत्र प्रतिक्रमे भेदो न प्रायश्चित्तकर्मणि ।
नाचारवाचनायुक्तवाचनैस्तु विशेषतः ॥ १३ ॥
चतुःसंघसंहिताया जैनबिम्बं प्रतिष्ठितम् ।
नमेन्नापरसंघस्य यतो न्यासविपर्ययः ॥ १४ ॥
पंचाचाररतो नित्यं मूलाचारविदग्रणीः ।
चतुर्वर्ण्यस्य संघस्य यः स आचार्य इष्यते ॥ १५ ॥
अनेकनयसंकीर्ण शास्त्रार्थ व्याकृतिक्षमः ।
पंचाचाररतो ज्ञेय उपाध्यायः समाहितैः ॥ १६ ॥
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो व्याख्यानादिषु कर्मसु ।
विरक्तो मौनवान् ध्यानी साधुरित्यभिधीयते ॥ १७ ॥
सर्वशास्त्रकलाभिज्ञो नानागच्छाभिवर्द्धकः ।
महामनाः प्रभाभावी भट्टारक इतीष्यते ॥ १८ ॥
तत्त्वार्थसूत्रव्याख्याता स्वामीति परिपठ्यते ।
अर्थक्रियाकलापस्य कर्त्ता वा मुनिसत्तमः ॥ १९ ॥

---

१ अहङ्कारात् २ छेदयन्ति ।

नूतनस्याग्रशिष्यस्य क्षमाध्ययनशालिनः ।
मुखशुद्ध्यादिकं नैव यावन्न गुरुणोच्यते ॥ २० ॥

गृहस्थस्यापि शुद्धस्य जिनवेदोपजीविनः ।
गृहस्थाचार्यता ज्ञेया स च पूज्योऽखिलैर्जनैः ॥ २१ ॥

तदुक्तैर्धर्मशास्त्रैः स्याल्लोकानामिह संग्रहः ।
प्रतिष्ठादिषु कार्येषु नूनं तस्याधिकारिता ॥ २२ ॥

साकं विसंघैर्नयते भुक्तौ पंक्तिर्नतानतिः ।
परस्परं चतुःसंघे पंक्तिभेदो न विद्यते ॥ २३ ॥

श्रावकं शिष्यकं चापि न गृह्णीयात्समाहितः ।
विसंघशिष्यभक्तानां गृहीतिर्नैव विद्यते[1] ॥ २४ ॥

परीक्ष्य दीक्षा दातव्या मिथ्यादृष्टेरथान्यथा ।
दत्ता दर्शनहास्याय स्वोपघाताय च क्रमात्[2] ॥ २५ ॥

श्रमणः श्राविकादीनां निवासे निशि न स्वपेत् ।
[3]चित्ते कृताऽपि योषा यच्चित्तविभ्रमकारिणी ॥ २६ ॥

नार्यिकाभिः समं[4] मार्गे गन्तव्यं यतिसत्तमैः ।
तत्संगमात्पुराऽभूवन् यतयो दुःखभाजनम् ॥ २७ ॥

एकया योषिता सार्द्धं स्वयमेकाकिना सता ।
न गोष्ठी क्रियते नैव भुज्यते नाऽऽस्यते[5]ऽपि वा ॥ २८ ॥

यत्र यत्रेन्द्रियक्षोभो जायते व्रतिनः परम् ।
तं तं देशं परित्यज्य चारित्रं रक्षयेन्मुनिः ॥ २९ ॥

---

१ " नियते " इति " क " पुस्तके पाठः । २ जायत इति पाठान्तरं । ३ " चित्रस्थापितयोषाऽपि चित्तविभ्रमकारिणी " ति पाठान्तरम् ४ " साकं सार्धं समं सहे " त्यमरः । ५ स्थीयते ।

आवश्यकमतिक्रम्यं[1] न कुर्यादपरां क्रियाम् ।
गीतवाद्यादिकं नैव शृणुयाद्रागचेतसा ॥ ३० ॥
येन येन हि शास्त्रेण यथा वा विद्यया मुनेः ।
सम्यक्त्वसंयमादीनां हानिस्तत्सेवनां त्यजेत् ॥ ३१ ॥
आर्यिकाणां गृहस्थानां शिष्याणामल्पमेधसाम्[2] ।
न वाचनीयं पुरतः सिद्धान्ताचारपुस्तकम् ॥ ३२ ॥
नाचारवाचनां योग्याः तथा स्युः श्रवणाः पराः ।
वन्दनां प्रति नैव स्याद्वन्दना च कदाचन ॥ ३३ ॥
महत्तराऽप्यार्यिका वै वन्दते भक्तिभाविता ।
अद्य दीक्षितमप्याशु यतिनं शान्तमानसम् ॥ ३४ ॥
कर्मक्षयः समाध्यादिः श्रमणानां नतात्मनाम् ।
धर्मवृद्धिर्गृहस्थस्य व्रतिनः शुद्धचेतसः ॥ ३५ ॥
मिथ्यादृष्टेः सुवर्णस्य धर्मवृद्धिरुदाहृता ।
किरातान् म्लेच्छकान् धर्मलाभेन परितोषयेत् ॥ ३६ ॥
सम्यग्दर्शनशुद्धस्य मातंगस्य वदेन्मुनिः ।
पापक्षय इति स्पष्टं न तस्याऽस्त्यपरो विधिः ॥ ३७ ॥
गायकस्य[3] तलारस्य[4] नीचकर्मोपजीविनः ।
मालिकस्य विलिंगस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च ॥ ३८ ॥
दीनस्य सूतिकायाश्च छिंपकस्य विशेषतः ।
मद्यविक्रयिणो मद्यपानसंसर्गिणश्च न ॥ ३९ ॥
क्रियते भोजनं गेहे यतिना भोक्तुमिच्छुना ।
एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीयं स्वचेतसा ॥ ४० ॥

---

१ उल्लंघ्या । २ अल्पबुद्धीनाम् । ३ नायकस्येति पाठान्तरं । ४ नीचविशेषस्य ।

मध्याह्ने दुःखितान् दीनान् भोजनादिभिरादरात् ।
अनुगृह्णन्यतिः संघपूजनीयो भवेत्सदा ॥ ४१ ॥

वरं स्वहस्तेन कृतः पाको नान्यत्र दुर्दृशाम् ।
मन्दिरे भोजनं यस्मात्सर्वसावद्यसंगमः ॥ ४२ ॥

पिच्छेन मृदुनाऽऽलिख्य वपुर्धर्माद्विशेन्मुनिः ।
छायां तथैव घर्मं च भूमिभेदेपि चान्वहम् ॥ ४३ ॥

गृहरोधे पशूनां च बंधनेऽन्नप्रशोषणे ।
सावद्यकर्मण्यन्यस्मिन् वर्त्तमाने च मन्दिरे ॥ ४४ ॥
न विशेद्भोजनं कर्त्तुं प्रविश्य च तदंगणे ।
मुहुर्न वीक्षयेद्दातॄन् सतोच्छ्वासेषु संमतः ॥ ४५ ॥

व्याध्यार्त्तं योगिनं वीक्ष्य नोपेक्षेत कदाचन ।
स्वकीयं परकीयं च विदर्शनमथाऽपि च ॥ ४६ ॥

ज्ञानचारित्रहीनोऽपि जैनः पात्रायतेतराम् ।
ज्ञानचारित्रयुक्तोऽपि न मिथ्यादृक्कदाचन ॥ ४७ ॥

तस्मै दानं प्रदातव्यं यः सन्मार्गे प्रवर्त्तते ।
पाखंडिभ्यो ददद्दानं दाता मिथ्यात्ववर्द्धकः ॥ ४८ ॥

जीर्णं जिनगृहं बिंबं पुस्तकं च सुदर्शनम् ।
उद्धार्य स्थापनं पूर्वपुण्यतो लभ्यमुच्यते ॥ ४९ ॥

शयानं व्यग्रमनसं मलाक्तं निंद्यकर्मकम् ।
न वंदते यतिं साधुर्धर्मध्यानपरं नमेत् ॥ ५० ॥

---

१ " च सुदर्शनं " इत्यस्य स्थाने " श्राद्धमेव च " इति " क " पुस्तके पाठः.
२ " लभ्य " मित्यस्य स्थाने " अधिक " मिति " क " पुस्तके पाठः ।

निर्ग्रन्थानां नमोऽस्तु स्यादार्यिकाणां च वंदना ।
श्रावकस्योत्तमस्योच्चैरिच्छाकारोऽभिधीयते ॥ ५१ ॥

भोजने [2]गमनेऽन्यत्र कार्ये वा यत्र कुत्रचित् ।
पूर्वाचार्यमतं नूनं प्रमाणं जिनशासने ॥ ५२ ॥

पूर्वाचार्यमतिक्रम्य यः कुर्यात् किंचिदप्यसौ ।
मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञेयो न वंद्यश्च महात्मभिः ॥ ५३ ॥

एकाकिना न गन्तव्यं यतिना सद्वितीयकः ।
विहरन् धर्ममाप्नोति नैकाकी तु कदाचन ॥ ५४ ॥

आत्मना [3]पंचमः श्रेयान् चतुर्भिस्त्रिभिरेव च ।
समं गच्छन्यतिर्[4]गच्छेद्गमनीयं न चापरः ॥ ५५ ॥

मकारत्रितयातीतं मणिमंत्रादिसाधनम् ।
कुर्यात्तेन समं सिद्धमसिद्धवदुदाहृतम् ॥ ५६ ॥

राजोपासकसाधूनां मरणे ग्रहणादिके ।
पर्वण्यपि न वाच्यः स्यात् सिद्धान्तो मुनिपुङ्गवैः ॥ ५७ ॥

नैर्ग्रन्थ्यं रक्षयेद्धीमान् शीलवस्त्रसमावृतः ।
न वस्त्रं गृह्यते क्वापि प्राणत्यागेऽपि योगिना ॥ ५७ ॥

भूपतिर्वा श्रावको वा मुनेः किं कर्त्तुमीश्वरः ।
यस्य चित्तं सदा शुद्धं बुद्धात्मव्यवसायकम् ॥ ५९ ॥

अथ वा शतकेऽतीते वर्षाणां चापि गच्छतु ।
वपुरेतन्न पंथानं त्यजन्ति सुधियो जनाः ॥ ६० ॥

---

१ स्वेच्छया " जयं जिनेन्द्र " " जुहारु " इत्यादि । २ " नमने " इति " क " पुस्तके पाठः । ३ " पंचम " इत्यस्य स्थाने सप्तभिरिति " ख " पुस्तके पाठः । ४ " गच्छगणनीय " इति पाठान्तरं ।

वसतौ यत्र पंचाक्षो मृतो रुधिरमेव च ।
पतितं तत्र नो कल्प्यं प्रतिक्रमणमंजसा ॥ ६१ ॥
सिद्धान्तवाचनेनैव पट्टे तिष्ठेद्दिगम्बरः ।
चतुरंगुलमानस्तु शस्यते वन्दनास्वपि ॥ ६२ ॥

भूशुद्ध्यादिसमायुक्ते क्षेत्रे सूत्रादिवाचनम् ।
कुर्वन्यतिः परां काष्ठां मरणे लभते परम् ॥ ६३ ॥
सूत्रपाठं प्रदोषादिवर्ज्यं कुर्यात्समाहितः ।
अन्यथा न समाप्नोति फलं चारु पठन्नपि ॥ ६४ ॥
सिद्धान्ताचारपुस्तानि न वाच्यानि विना विधिम् ।
प्रायश्चित्तं च दातव्यं यथाशास्त्रं परीक्षितम् ॥ ६५ ॥

गणाधीशाद्गमेद्धीमान् गुरुभक्त्या चाविशेषतः ।
वन्दनां प्रति दद्याच्च वंदनां दीक्षितेष्वपि ॥ ६६ ॥
श्रीभद्रबाहुः श्रीचन्द्रो जिनचन्द्रो महामतिः ।
गृध्रपिच्छगुरुः श्रीमान् लोहाचार्यो जितेन्द्रियः ॥ ६७ ॥

एलाचार्यः पूज्यपादः सिंहनन्दी महाकविः ।
जिनसेनो वीरसेनो गुणनन्दी महातपाः ॥ ६८ ॥

समन्तभद्रः श्रीकुंभः शिवकोटिः शिवंकरः ।
शिवायनो विष्णुसेनो गुणभद्रो गुणाधिकः ॥ ६९ ॥

अकलंको महाप्राज्ञः सोमदेवो विदांवरः ।
प्रभाचन्द्रो नेमिचन्द्र इत्यादिमुनिसत्तमैः ॥ ७० ॥

पंचेन्द्रियः २ लभतेतरां इति " ख " पुस्तके पाठः ३ " विदं " इति " ख " पुस्तके पाठः ४ " परीक्ष्य तं " इति " ख "पुस्तके पाठः ५ " महायतिः " इति " ख " पुस्तके पाठः "

यच्छास्त्रं रचितं नूनं तदेवाऽऽदेयमन्यकैः।
विसंघ्यै रचितं नैव प्रमाणं साध्वपि स्फुटम् ॥ ७१ ॥
पूर्वाचार्यवचः श्रीमत्सर्वज्ञवचनोपमम् ।
तज्ज्ञानन्ननगारोऽत्र पूज्यः स्यादखिलैर्जनैः ॥ ७२ ॥
विसंघ्यैः सममध्यात्मप्रायश्चित्तविधिक्रियाः ।
सिद्धान्ताचारभावाश्च नाऽऽलोच्या यतिना सदा ॥ ७३ ॥
द्रव्यलिंगं समास्थाय भावलिंगी भवेद्यतिः ।
विना तेन न पूज्यः स्यान्नानाव्रतधरोऽपि सन् ॥ ७४ ॥
अचेलत्वं शिरः कूर्चलोचोऽधः केशधारणम् ।
निराभरणताऽछिन्नदेहता पिच्छधारणम् ॥ ७५ ॥
द्रव्यलिंगमदो ज्ञेयं भावलिंगस्य कारणम् ।
तदध्यात्मकृतं स्पष्टं न नेत्रविषयं यतः ॥ ७६ ॥
मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मन्यते ।
राजमुद्राधरात्यंतहीनवच्छास्त्रनिर्णयः ॥ ७७ ॥
स्थावरं देहभेदेन व्रतभेदेन लिंगिनम् ।
उभयोर्भिन्नलिंगत्वान्नार्चयेन्नाभिवन्दयेत् ॥ ७८ ॥
येन येन हि कृत्येन धर्मवृद्धिः प्रजायते ।
तत्तत्कुर्वन्मुनिर्मान्यो भवेदत्र न संशयः ॥ ७९ ॥
आगते स्वागतं कुर्याद्गच्छन्तं न निवारयेत् ।
तिष्ठन्तं कारयेद्भिक्षामेष धर्मः सनातनः ॥ ८० ॥
पिच्छपुस्तकपट्टादीन् याचयित्वा परस्परम् ।
ग्रहणं न विना याञ्चामेष धर्मः सनातनः ॥ ८१ ॥

१ "व्रतभंगेनेति" "क" पुस्तके पाठः । २ भ्रामयेदिति "क" पुस्तके पाठः ।

गुरून्विलोक्य सहसा समुत्थानं तथा नतिः ।
अनुकूलप्रवृत्तिश्च सर्वधर्मशिरोमणिः ॥ ८२ ॥
गुरुणा दीयमानानि वस्तूनि वहुभावतः ।
पाणिद्वयेन संगृह्य पुनरप्यभिवन्दयेत् ॥ ८३ ॥
दीक्षादाताऽध्यापयिता कृताचार्यादिवाचनः ।
दोषच्छेदी कृतांतार्थो गुरुरित्यभिधीयते ॥ ८४ ॥
यो यो गुणाधिको मूलगणगच्छाद्यलंकृतः ।
स सर्वोप्युच्यते जैनैर्गुरुरित्युज्झितस्मयैः ॥ ८५ ॥
क्वचित्कालानुसारेण सूरिर्द्रव्यमुपाहरेत् ।
संघपुस्तकवृद्ध्यर्थमयाचितमथालरकम् ॥ ८६ ॥
पार्श्वस्थवृत्तितां नैवालंबेताऽऽलंबनोज्झितः ।
न दैन्यं दर्शयेल्लोके प्राणत्यागेऽपि चात्मनः ॥ ८७ ॥
क्षुत्कार्श्यं मलिनाङ्गत्वं यतेर्भूषणमंजसा ।
न तेन लज्जते योगी पवित्रतरमानसः ॥ ८८ ॥
मनः शुद्धं भवेद्यस्य सः शुद्ध इति भाष्यते ।
विना तेन कृतस्नानोऽप्यंगी नैव विशुद्ध्यति ॥ ८९ ॥
कार्याकार्यविचारज्ञः सर्वभाषाविशारदः ।
सर्वशास्त्रार्थवित्साधुर्धर्मस्य प्रतिपादकः ॥ ९० ॥
सगुणो निर्गुणो वाऽपि श्रावको मान्यते सदा ।
नाऽवज्ञा क्रियते तस्य तन्मूला धर्मवर्त्तना ॥ ९१ ॥
त्रिसंधभक्ता भक्त्या चेद्दानं यच्छन्ति योगिने ।
भाण्डभाजनशुद्धिश्चेन्न निषेधोऽस्ति कश्चन ॥ ९२ ॥

---

१ "समुत्थाय नतानतिः" इति "ख" पुस्तके पाठः । २ नमस्कुर्यात् ३ कृतसंन्यासविधानः । ४ अयं श्लोकः "ख" पुस्तके नास्ति । ५ पठ्यत इति पाठान्तरम् ।

भांडभाजनशुद्धोऽपि पाखंडी यो विनिन्दकः।
यतेस्तत्र न भोक्तव्यं तदन्नं पापमुच्यते ॥ ९३ ॥
न योषितः स्पृशेद्योगी काष्ठचित्रकृता अपि।
किं पुनः स्पर्शनं तासां यासां स्मरणमापदे ॥ ९४ ॥
पंचचेलविनिर्मुक्ता ग्रंन्थमुक्ता मताः सताम्।
न ते सुवर्णरूप्यादि स्पृशन्ति गुरुसंयमाः ॥ ९५ ॥
मुखशुद्धिं न कुर्वन्ति नोपविश्य च भोजनम्।
संघेन सह कुर्वन्ति नापेक्षन्ते च किंचन ॥ ९६ ॥
चित्रस्थामपि संस्पृश्य योषितं नैव भुंजते।
तस्मिन्नहनि भुक्तं चेत् षंष्ठे स्यात्पापनाशनम् ॥ ९७ ॥
पाखंडा यत्र संजाता जिह्वोपस्थादिदंडिताः।
ते सर्वे पापिनस्तस्माद्ब्रह्मचर्यं धरेद्यतिः ॥ ९८ ॥
संघापकारिणं मूढं संघबाह्यं प्रकल्पयेत्।
अहिदष्टांगुलिर्वासः सर्वनाशाय जायते ॥ ९९ ॥
सम्यग्दर्शनशुद्धानां तपसाऽल्पेन जायते।
कर्मक्षयस्ततो नूनं तदेव प्रतिपालयेत् ॥ १०० ॥
सम्यक्त्वमूलं सर्वं स्याज्ज्ञानचारित्रमेव वा।
विना तेनाऽपरे नैव कुर्यातां मोक्षसाधनम् ॥ १०१ ॥
प्रतिक्रमादिवेलायां यदि प्राप्येत तत्त्वतः।
चतुर्दश्यष्टमी वा वै तदा सैव प्रशस्यते ॥ १०२ ॥

---

१ "क" पुस्तके भांडमुक्ता इति पाठः २ "क" पुस्तके गृह्णंतीति पाठः ३ "क" "ख" पुस्तकयोः "षष्ठं" इति पाठः परन्त्वत्र "षष्ठे" इति युज्यते ४ "ते सर्वेऽप्यनघं तस्मात्" इति "क" पुस्तके पाठः। ५ "ख" पुस्तके "वासः" इति स्थाने पुंस इति पाठः–अत्र "वा" शब्दो इवार्थे।

यद्यद्बहुतरं तत्तत्सर्वत्र बलवद्यथा।
तथा चतुर्दशीमुख्यतिथीनामपि सङ्गमः ॥ १०३ ॥
अधिका तिथिरादिष्टा धर्मकार्येषु सत्तमा।
आदिमध्यान्तभेदेन शक्तितश्चापि हीयते ॥ १०४ ॥
जिनजन्मादिकाः सर्वाः क्रिया मासतिथिप्रमाः।
नक्षत्रयोगकरणं न प्रधानं यतश्चलम् ॥ १०५ ॥
घटीचतुष्टये रात्रेः कुर्यात्पूर्वाह्णवन्दनाम्।
मध्याह्नस्याऽपि नियमो नाडीद्वयमुदाहृतम् ॥ १०६ ॥
अपराह्णे तु नाडीनां चतुष्टयसमाहितः।
नक्षत्रदर्शनान्मुंचेत्सामायिकपरिग्रहम् ॥ १०७ ॥
या क्रिया क्रियते यत्र तिथौ सा तत्र सम्मता।
अनागते ह्यतीते च तस्मिन्नाडीद्वयं मतं ॥ १०८ ॥
सिद्धान्ते वाच्यमाने स्याद्यदि मेघस्य गर्ज्जनम्।
विद्युतो दर्शनं चापि तदाऽनध्ययनं मतम् ॥ १०९ ॥
भानोरुदयतो नाडीषट्कं स्वाध्यायगोचरः।
ततो मुनिः प्रवर्त्तेत योग्यकृत्येषु नित्यशः ॥ ११० ॥
मनागुद्देशितो मार्गे नित्यनैमित्तिकात्मसु।
क्रियासु विस्तरो ज्ञेयः पूर्वाचार्यमतात्ततः ॥ १११ ॥
तीर्थेशां सर्वभावानां मतं केनाऽनुबुद्ध्यते।
तन्मन्वाना नरो यान्ति शक्रनन्दितसम्पदः ॥ ११२ ॥

---

१ " तथा तत्ततिथिर्मुख्या बहूनामपि संगमे " इति " ख " पुस्तके पाठः। २ " क " पुस्तके " तदा नाहस्तदीडयते " इति पाठः। ३ " तन्मन्वाना न हीयन्ते शक्रनन्दितसम्पदः " इति " ख " पुस्तके पाठः।

स्रग्धरावृत्तम्

माद्यन्प्रत्यर्थिवादिद्विरदपटुघटाटोपकोपापनोदा
वाणी यस्याऽभिरामा मृगपतिपदवीं गाहते देवमान्या ।
सः श्रीमानिन्द्रनन्दी जगति विजयतां भूरि भावानुभावी
दैवज्ञः कुन्दकुन्दप्रभुपदविनयः स्वागमाचारचंचुः ॥ ११३॥

इति श्रीभट्टारक इन्द्रनन्दिप्रणीतः श्रीनीतिसारः समाप्तिंपफाण।

इति नीतिसारः ।

मोक्ष-पंचाशिका ।

ज्ञानदर्शनचारित्रतपसां संहतिश्च या ।
सम्यक्पदोपसंसृष्टा मोक्षमार्गः प्रकीर्तितः ॥ १ ॥
गुणपर्ययतादात्म्यविशिष्टस्यैव धर्मिणः ।
वैशिष्ट्ययुक्तं ग्रहणं ज्ञानं साकारमुच्यते ॥ २ ॥
मुख्यत्वे धर्ममात्रस्य गौणत्वे धर्मिणस्तथा ।
अनाकारं दर्शनं तत्कीर्तितं मुनिपुङ्गवैः ॥ ३ ॥
संशयश्च विपर्यासोऽनध्यासश्च भवेत्त्रिधा ।
दोषस्तेन विनिर्मुक्तं ज्ञानं सम्यकप्रचक्षते ॥ ४ ॥
अनवस्थितकोटीनामेकत्र परिकल्पनाम् ।
शुक्ति वा रजतं किं वेत्येवं संशीतिलक्षणम् ॥ ५ ॥
विरुद्धकोटिसंस्पर्शी व्यवसायो विपर्ययः ।
शुक्तौ रजतबुद्धिः सा विपर्यासो भ्रमोऽपि च ॥ ६ ॥
विशिष्टस्य विशेषाणामस्य च स्वेन वेदनम् ।
गच्छतस्तृणसंस्पर्शे इवानध्यास इष्यते ॥ ७ ॥
गुणपर्ययतादात्म्यविशिष्टं द्रव्यमुच्यते ।
उत्पत्तिव्ययनैयत्यं पर्यायास्तस्य शाश्वताः ॥ ८ ॥
भूतं चाऽपि भविष्यं च भवतीति विनिश्चितम् ।
यदतीतं विनष्टं तदागाम्युत्पादलक्षणम् ॥ ९ ॥
वर्त्तमानं ध्रुवं प्रोक्तमेवं द्रव्येषु पर्ययाः ।
उत्पद्यंते विलीयंते तरंगा इव पाथसि ॥ १० ॥
उत्पादव्ययनैयत्यं नैतत्कालस्य कल्पना ।
यतः स वर्त्तनारूपोऽवस्थान्तरनिबंधनम् ॥ ११ ॥
पूर्वक्षणादुत्तरत्र भिन्नावस्थां करोति सः ।
तेनारूपिषु शुद्धेषु न तस्य गतिरिष्यते ॥ १२ ॥

स्वयं सिद्धं मतं द्रव्यं गुणास्तत्सहवर्त्तिनः ।
तत्राव्यावर्त्तकाः केचित्केचिद्व्यावृत्तिहेतवे ॥ १३ ॥
अतिव्याप्तिस्तथाऽव्याप्तिरसंभव इति त्रिधा ।
दोषस्तेन विनिर्मुक्तो गुणो व्यावर्तकः स्मृतः ॥ १४ ॥
अलक्ष्ये वर्त्तनां प्राहुरतिव्याप्तिं बुधा यथा ।
गुण आत्मन्यरूपित्वमाकाशादिषु दृश्यते ॥ १५ ॥
लक्ष्यैकदेशवर्त्तित्वमव्याप्तिः कीर्तिता बुधैः ।
यथा जीवस्य देहत्वमसिद्धं परमात्मनि ॥ १६ ॥
लक्ष्ये त्वनुपपन्नत्वमसंभव इतीरितः ।
यथा वर्णादियुक्तत्वमसिद्धं सर्वथात्मनि ॥ १७ ॥
एतद्दोषत्रयातीतं हि व्यावृत्त्यैकलक्षणम् ।
भवेदुपयोगो जीवस्य मूर्त्तत्वं पुद्गलस्य वा ॥ १८ ॥
क्रमवृत्तास्तु पर्याया अवस्थाभेद एव ते ।
केचिद्द्रव्याश्रयाः केचिद्गुणनिष्ठा इति द्विधा ॥ १९ ॥
नरामराद्यो जन्तौ स्कंधदेशादयो परे ।
उभयोर्ज्ञानवर्णाद्या द्विधैवं पर्यया मताः ॥ २० ॥
शुद्धाशुद्धा इमे प्रोक्ताः सिद्धाः संसारिणस्तथा ।
केवलं वाथ मत्यादि कीर्तितं मुनिपुंगवैः ॥ २१ ॥
स्वान्यभेदाद् द्विधा वा ते निजावरणकर्मणां ।
क्षयोपशमसंभूता क्षयाद्वा द्युतिरात्मनः ॥ २२ ॥
केवलिप्रज्ञया तस्या जघन्योंऽशस्तु पर्य्ययः ।
तदानंत्येन निष्पन्ना सा द्युतिर्निजपर्य्ययाः ॥ २३ ॥
षट्स्थानपतिताश्चाद्याः केवलं तु क्षयोद्भवम् ।
तेन तत्पर्ययास्तुल्याः सदावस्थितरूपिणः ॥ २४ ॥
क्षयोपशमवैचित्र्यं ज्ञेयवैचित्र्यमेव वा ।
जीवस्य परपर्यायाः षट्स्थानपतिता अमी ॥ २५ ॥

द्रव्यस्य वा गुणस्याथ जघन्यांशेऽपि कल्पिते।
अंशा अनन्ता अगुरुलघवः किल पर्ययाः ॥ २६ ॥
गुरवो लघवो वर्णा वाग्विलासे व्यवस्थिताः।
व्यवहारमतिक्रान्तास्तस्यावाच्यास्ततश्च ते ॥ २७ ॥
गुरूत्कृष्टं जघन्यं तु लघु स्यादात्म्यबाहुलम्।
व्यवहारस्तयोस्तस्या गोचरः पर्यया इमे ॥ २८ ॥
आपेक्षिकं गुरुत्वं वा लघुत्वं चाप्यपेक्षया।
द्रव्यं तु निरपेक्षं स्यात्तस्मात्तो ह्युच्यते ॥ २९ ॥
तदसाधारणो भाव आत्मत्वं यद्वदात्मनः।
अगुरुलघुपर्यायः कीर्त्यते वस्तुवास्तवं ॥ ३० ॥
अनाद्यनन्ता अगुरुलघवो द्रव्यपर्ययाः।
अनादिसान्तं भव्यत्वं सिद्धत्वं साद्यनन्तकम् ॥ ३१ ॥
नारकप्रमुखा भावाः सादिसान्ताः प्रकीर्तिताः।
एवं चतुर्विधत्वं स्यात्पर्ययाणां किलात्मनः ॥ ३२ ॥
धर्माधर्मौ नभो जीवः पुद्गलोद्धा प्रकीर्तितः।
द्रव्यषट्कमिदं स्वीयैः पृथग्धर्मैः समन्वितम् ॥ ३३ ॥
उपग्रहो गतिस्थित्योरवगाहश्च चेतना।
वर्णाद्या वर्त्तनैतानि लक्षणान्याह तत्त्ववित् ॥ ३४ ॥
आत्मा चिदेको मूर्त्तश्च कृत्स्नः पूर्णो गुणैर्निजैः।
सहस्रांशुरिवात्मानं परं चाऽपि प्रकाशते ॥ ३५ ॥
सम्यग्दृष्टिस्तु तत्त्वार्थश्रद्धानं परिकीर्त्तितम्।
श्रद्धावतोप्यनिर्वाच्यमात्मानुभवजं सुखम् ॥ ३६ ॥
जीवे जीवार्पितो बन्धः परिणामविकारकृत्।
आश्रवादात्मनोशुद्धपरिणामात्प्रजायते ॥ ३७ ॥
इति बुध्वास्रवं रुध्वा कुरु संवरमुत्तमम्।
जहीहि पूर्वकर्माणि तपसा निर्वृतिं व्रज ॥ ३८ ॥

तत्पदं तु परामर्शादात्मसाध्यानि सूचयेत् ।
तदसाधारणो धर्मस्त्वशब्देन प्रकीर्तितः ॥ ३९ ॥
सर्वेषामेव भावानां स्वात्मार्थः प्राय एव हि ।
तं विना सर्ववस्तूनां स्वरूपस्याविनिश्चयात् ॥ ४० ॥
रसवत्यां यथा भोज्यं व्यर्थं स्याद्भोजकं विना ।
एवं वस्तूनि सर्वाणि मुधा चेतनमन्तरा ॥ ४१ ॥
तस्य व्यामोहसंशीतिविपर्यासविवर्जिता ।
इत्थमेव प्रतीतिर्या श्रद्धा सा कीर्त्तिता बुधैः ॥ ४२ ॥
एवं श्रद्धावतो जन्तो भेकस्येवेन्दुवीक्षणे ।
आत्मानुभवविस्फूर्तादानन्दो दर्शनं मतम् ॥ ४३ ॥
तत्रानवरताभ्यासश्चारित्रं निश्चयात्मकम् ।
कर्मोपचयहेतूनां निग्रहो व्यवहारतः ॥ ४४ ॥
निराकुलत्वजं सौख्यं स्वयमेवावतिष्ठतः ।
यदात्मनैव संवेद्यं चारित्रं निश्चयात्मकम् ॥ ४५ ॥
अगोचरं तद्वचसामक्षसौख्यातिरेकभाक् ।
न भयं न स्पृहा यत्र चारित्रं निश्चयात्मकम् ॥ ४६ ॥
आत्मनो निर्विकारस्य कृतकृत्यत्वधीश्च या ।
उत्साहो वीर्यमिति तत्कीर्त्तितं मुनिपुंगवैः ॥ ४७ ॥
तस्माद्वीर्यसमुद्रेकादिच्छारोधस्तपो विदुः ।
बाह्यं वाक्कायसंभूतमान्तरं मानसं स्मृतं ॥ ४८ ॥
एतच्चतुष्टयं मार्गः समुदाये विनिश्चितः ।
तमाराध्य गतास्तूर्णं निर्वृतिं मुनिसत्तमाः ॥ ४९ ॥
सम्यग्विचिन्तयेद्यस्तु मोक्षपंचाशिकामिमाम् ।
अभ्यस्यन्नात्मनो रूपं विकारेभ्यो निवर्त्तते ॥ ५० ॥

इतिमोक्ष पंचाशिका।

श्रुतावतारः ।

सर्वनाकीन्द्रवन्दितकल्याणपरंपरं देवं ।
प्रणिपत्य वर्धमानं श्रुतस्य वक्ष्येऽहमवतारम् ॥ १ ॥
यद्यप्यनाद्यनिधनं श्रुतं तथाऽप्यत्र तन्निभेन मया ।
कालाश्रयेण तस्योत्पत्तिविनाशौ प्रवक्ष्येते ॥ २ ॥
भरतेऽस्मिन्नवसर्पिण्युत्सर्पिण्याह्वयौ प्रवर्तेते ।
कालौ सदाऽपि जीवोत्सेधायुर्ह्रासवृद्धिकरौ ॥ ३ ॥
एकैकस्य पृथग्दशकोटीकोटयः प्रमाणमुद्दिष्टम् ।
वार्ध्युपमानावेतौ समाश्रितौ भवति कल्प इति ॥ ४ ॥
तत्रावसर्पिणीयं प्रवर्तमाना भवेत्समाऽस्याश्च ।
कालविभागाः प्रोक्ताः षडेव कालप्रभेदज्ञैः ॥ ५ ॥
सुषमसुषमाह्वयाद्या सुषमाऽन्या सुषमदुःषमेत्यपरा ।
दुष्षमसुषमान्या दुष्षमाऽतिपूर्वा पराऽस्यैव ॥ ६ ॥
तत्र क्रमाच्चतस्रस्तिस्रो द्वे सागरोपमाख्यानाम् ।
कोटीकोटयस्तिसृणामाद्यानां भवति परिमाणम् ॥ ७ ॥
कोटीकोटीवर्षसहस्रैरेतैश्चतुर्दशाभिरूना ।
त्रिगुणैरम्भोधीनां परिमाणं भवति तुर्यायाः ॥ ८ ॥
एकोत्तरविंशत्या वर्षसहस्रैर्मिता समोपान्त्या ।
तावद्भिरेव कलिता वर्षसहस्रैः समा षष्ठी ॥ ९ ॥
धनुषां षट्चत्वारि द्वे च सहस्रे शतानि पञ्चैव ।
हस्ताः सप्तारत्निः षट्कालिकमानतोत्सेधः ॥ १० ॥
पल्यानि त्रीणि द्वे तथैककं वर्षपूर्वकोटी च ।
विंशच्छतं च विंशतिरब्दानां तन्नृणामायुः ॥ ११ ॥

तत्राद्ययोर्व्यतीते समये सम्पूर्णयोस्तृतीयायाः ।
पल्योपमाष्टमांशन्यूनायाः कुलधरा ये स्युः ॥ १२ ॥
तेषामाद्यो नाम्ना प्रतिश्रुतिः सन्मतिर्द्वितीयः स्यात् ।
क्षेमङ्करस्तृतीयः क्षेमन्धरसञ्ज्ञितस्तुर्यः ॥ १३ ॥
सीमङ्करस्तथाऽन्यः सीमन्धरसाह्वयो विमलवाहः ।
चक्षुष्माँश्च यशस्वानभिचन्द्रश्चन्द्राभनामा च ॥ १४ ॥
मरुदेवनामधेयः प्रसेनजिन्नाभिराजनामाऽन्त्यः ।
हामाधिक्कारानुशासति निजतेजसः स्खलितान् ॥ १५ ॥
हाकारं पञ्च ततो हामाकारं च पञ्च पञ्चान्ये ।
हामाधिक्कारान्कथयन्ति तनोर्दण्डनं भरतः ॥ १६ ॥
रवितारालोकेभ्यस्त्रयो नृणामपनयन्ति भयमाद्याः ।
दीपविचोदनमर्यादाऽऽवृतिवाहादिरोहमतः ॥ १७ ॥
कथयन्ति तु चत्वारः सुतेक्षणाद्भीतिमपहरत्यन्यः ।
नामकृतिं शशधरमभि शिशुकेलिं प्रकुरुतेऽन्यः ॥ १८ ॥
जीवति सुतैः सहान्यो जलतरणं गर्भमलविशुद्धिं च ।
नालनिकर्तनमपि च त्रयोऽपि परे व्यपदिशन्ति नृणाम् १९
अथ नाभिराजनृपतेर्मरुदेव्यां व्यजनि नन्दनो वृषभः ।
तीर्थकृतामाद्योऽसौ प्रवर्त्य भरते भृशं तीर्थम् ॥ २० ॥
निर्वाणमवाप ततः पञ्चाशल्लक्षकोटिमितवार्द्धिः ।
यावदविच्छिन्नतया समागतं तत् श्रुतं सकलम् ॥ २१ ॥
जातस्ततोऽजितजिनः शिष्येभ्यः सोऽपि सम्यगुपदिश्य ।
तत् श्रुतमखिलं प्रापन्निर्वाणमनुत्तरं तद्वत् ॥ २२ ॥
एवमजितादिचन्द्रप्रभान्ततीर्थेशिनामतिक्रान्ता ।
सागरकोटीनां त्रिंशत्क्रमाद्दशभिरथ नवभिः ॥ २३ ॥

लक्षैस्तथा नवत्या नवभिश्च सहस्रकैः शतैर्नवभिः।
शम्भवमुख्यात् श्रुतमापञ्चमत्या च पुष्पदन्तान्तात् ॥२४॥
अथ पुष्पदन्ततीर्थे नववारिधिकोटिगणनया कलिते।
पल्योपमतुर्यांशे शेषे तत् श्रुतमवाप विच्छेदम् ॥ २५ ॥
पल्यचतुर्भागमिते काले तीर्थे ततः समुत्पन्नः।
शीतलजिनः स पुनराविष्कृतवाँस्तत् श्रुतविशेषम् ॥ २६ ॥
शीतलतीर्थे सागरशतेन षट्षष्टिलक्षमितवर्षैः।
षड्विंशत्या वर्षसहस्रैर्न्यूनैकवार्द्धिकोटिमिते ॥ २७ ॥
पल्यार्धमात्रकाले शेषे तत्पुनरजन्यविच्छिन्नम्।
मितवति गतवति काले ततोऽभवत्तीर्थकृच्छ्रेयान् ॥ २८ ॥
श्रेयस्तीर्थेऽपि चतुष्पञ्चाशत्सागरोपमप्रमिते।
पल्यत्रिचतुर्भागे शेषे तत्पुनरवापान्तम् ॥ २९ ॥
पल्यत्रिचतुर्भागप्रमिते काले गते ततो जातः।
श्रीवासुपूज्यभगवान् सोऽप्याविष्कृत्य तन्मुक्तः ॥ ३० ॥
एवं वसुपूज्यात्मजविमलजिनानन्तधर्मतीर्थेषु।
त्रिंशन्नवकचतुष्कं त्रिपल्यपादोनितत्रिकैर्वार्धीनाम् ॥ ३१ ॥
प्रमितेषु पल्यपल्यत्रिपादपल्यार्धपल्यपल्यांशे।
शेषे शेषं तत् श्रुतमनुक्रमादाप विच्छेदम् ॥ ३२ ॥
अथ धर्मतीर्थसन्तानान्तरकालस्य सत्यपर्यन्ते।
उत्पद्य शान्तिनाथस्तत्प्रकटीकृत्य मुक्तिमगात् ॥ ३३ ॥
शान्त्यादिपार्श्वपश्चिमतीर्थकराणां च तीर्थसन्ताने।
पल्यार्धवर्षकोटीसहस्रोनितपल्यपादाभ्याम् ॥ ३४ ॥
कोटिसहस्रेण चतुःपञ्चाशद्गुणितशतसहस्रेण।
षड्भिश्च शतसहस्रैर्लक्षाभिः पञ्चभिश्च तथा ॥ ३५ ॥

त्र्यधिकाशीतिसहस्रैर्युताष्टमशतैश्च पञ्चाशत् ।
सहितशतद्वितयेन च वर्षाणां सम्मिते क्रमशः ॥ ३६ ॥
चतुरमलबोधसम्पत्प्रगल्भमतियतिजनैरविच्छिन्नैः ।
न क्वचिदप्यवच्छेदमापत्तत् श्रुतमुदात्तार्थम् ॥ ३७ ॥
अजिताद्यास्तीर्थकरा वृषभादिजिनेन्द्रतीर्थकालस्य ।
अन्तर्वर्त्यायुष्का जाता इत्यत्र विज्ञेयाः ॥ ३८ ॥
अथ पार्श्वनाथतीर्थस्यान्ते श्रीवर्धमाननामाऽभूत् ।
प्रियकारिण्यां सिद्धार्थभूपतेरन्त्यतीर्थकरः ॥ ३९ ॥
त्रिंशद्वर्षेषु कुमार एव विगतेष्वसौ प्रवव्राज ।
द्वादशभिर्वर्षाभिः प्रापद्वै केवलं तपः कुर्वन् ॥ ४० ॥
उदिते केवलबोधे धनदः शक्राज्ञया चकार सभाम् ।
समवसृतिनामधेयां तस्य स्यादखिललोकगुरोः ॥ ४१ ॥
सुरनरमुनिवृन्दारकवृन्देष्वपि समुदितेषु तीर्थकृतः ।
षट्षष्टिरहानि न निर्जगाम दिव्यध्वनिस्तस्य ॥ ४२ ॥
दिव्यध्वनेरनिर्गमकारणमवगम्य गणधराभावम् ।
आनेतुमगात्तमतः सुत्रामा गौतमग्रामम् ॥ ४३ ॥
तत्र स गत्वा ब्राह्मणशालायामिन्द्रभूतिनामानम् ।
छात्रशतपञ्चकेभ्यो व्याख्यानं विदधतं विप्रम् ॥ ४४ ॥
गौतमगोत्रं विद्यामदगर्वितमखिलवेदवेदाङ्ग- ।
प्रतिबुद्धतत्त्वमवलोक्य कवलिकाच्छात्रवेषेण ॥ ४५ ॥
तद्व्याख्यानं शृण्वन्नेकोद्देशे द्विजन्मशालायाः ।
स्थित्वा ततो भवद्भिः प्रतिबुद्धं तत्त्वमिति तस्य ॥ ४६ ॥
छात्रेभ्यः प्रतिपादनसमयेऽसौ नासिकाग्रभङ्गेन ।
मुहुरप्यरुचिं प्रकटीकुर्वन्नुपलक्षितश्छात्रैः ॥ ४७ ॥

तेऽपि ततस्तच्चेष्टितमीदृशमावेदयन् स्वकीयगुरोः ।
सोऽपि ततो द्विजमुख्यस्तमपूर्वं छात्रमित्यवदत् ॥ ४८ ॥
शास्त्राणि करतलामलकायन्तेऽस्माकमिह समस्तानि ।
अपरेऽपि वादिनोऽस्माज्जायन्ते नष्टदुष्टमदाः ॥ ४९ ॥
तत्केन हेतुना तद्व्याख्यानं नैव रोचते तुभ्यम् ।
कथयेति ततस्तस्मै प्रतिवचनमुवाच सोऽपीत्थम् ॥ ५० ॥
यदि सर्वशास्त्रतत्त्वं जानन्ति भवन्त एव तदमुष्याः ।
आर्यायाः कथयन्त्वर्थमिति पठति तत्काव्यम् ॥ ५१ ॥
षड्द्रव्यनवपदार्थत्रिकालपञ्चास्तिकायषट्कायान् ।
विदुषां वरः स एव हि यो जानाति प्रमाणनयैः ॥ ५२ ॥
श्रुत्वा तेनेत्युदितामश्रुतपूर्वामतीव विषमार्थाम् ।
आर्यामिमां ततोऽस्याः सोऽर्थमजानन्निति तमूचे ॥ ५३ ॥
कस्य च्छात्रस्तावत्त्वं कथयेत्याह सोऽपि भट्टार्हत् ।
श्रीवर्धमानभट्टारकस्य जगतीगुरोश्छात्रः ॥ ५४ ॥
सिद्धार्थनन्दनस्य छात्रस्त्वं चेन्महेन्द्रजालविदः ।
देवागमं जनस्य प्रतिदर्शयतो वियन्मार्गे ॥ ५५ ॥
तत्तेनैव विवादं सार्धं प्रकरोमि किं त्वया कार्यम् ।
त्वत्तो जयापजययोर्ममैव विद्वत्सु लघुता स्यात् ॥ ५६ ॥
एहि व्रजाव इत्यभिधाय पुरोधाय गौतमः शक्रम् ।
समवसृतिं भ्रातृभ्यामायाद्वायुवन्हिभूतिभ्याम् ॥ ५७ ॥
दृष्ट्वा मानस्तम्भं विगलितमानोदयो द्विजन्माऽऽसीत् ।
भ्रातृभ्यां सह जिनपतिमवलोक्य परीत्य तं भक्त्या ॥५८॥
नत्वा नुत्वा त्यक्त्वाऽशेषपरिग्रहमनाग्रहो दीक्षाम् ।
आदायाग्रिमगणभृद्बभूव सतर्द्धिसम्पन्नः ॥ ५९ ॥

अथ भगवान् किंजीवोऽस्ति नास्ति वा किंगुणः कियान्कीदृक्
इत्यादिषड्युतप्रमितं तद्गणेट्प्रश्नपर्यन्ते ॥ ६० ॥
जीवोऽस्त्यनादिनिधनः शुभाशुभविभेदकर्मणां कर्ता ।
सदसत्कर्मफलानां भोक्ता स्वोपात्ततनुमात्रः ॥ ६१ ॥
उपसंहरणविसर्पणधर्मज्ञानादिभिर्गुणैर्युक्तः ।
ध्रौव्योत्पत्तिव्ययलक्षणः स्वसंवेदनग्राह्यः ॥ ६२ ॥
नोकर्मकर्मपुद्गलमनादिरूपात्तकर्मसम्बन्धात् ।
गृह्णन् मुञ्चन् भ्राम्यन् भवे भवे तत्क्षयान्मुक्तः ॥ ६३ ॥
इत्याद्यनेकभेदैस्तथा स जीवादिवस्तुसद्भावम् ।
दिव्यध्वनिना स्फुटमिन्द्रभूतये सन्मतिरवोचत् ॥ ६४ ॥
श्रावणबहुलप्रतिपद्युदितेऽर्के रौद्रनामनि मुहूर्ते ।
अभिजिद्गते शशांके तीर्थोत्पत्तिर्बभूव गुरोः ॥ ६५ ॥
तेनेन्द्रभूतिगणिना तद्दिव्यवचोऽवबुध्य तत्त्वेन ।
ग्रन्थोऽङ्गपूर्वनाम्ना प्रतिरचितो युगपदपराह्णे ॥ ६६ ॥
प्रतिपादितं ततस्तत् श्रुतं समस्तं महात्मना तेन ।
प्रथितात्मीयसधर्मणे सुधर्माभिधानाय ॥ ६७ ॥
सोऽपि प्रतिपादितवान् जम्बूनाम्ने सधर्मणे स्वस्य ।
तेभ्यस्ततो गणिभ्योऽन्यैरपि तदधीतं मुनिवृषभैः ॥ ६८ ॥
सन्मतिजिनस्ततोऽसावासन्नविमुक्तिभव्यसस्यानाम् ।
परमानन्दं जनयन् धर्मामृतवृष्टिसेकेन ॥ ६९ ॥
त्रिंशतमिह वर्षाणां विहृत्य बहुजनपदान् जगत्पूज्यः ।
सरसिजवनपरिकलिते पावापुरबहिरुद्याने ॥ ७० ॥
वत्सरचतुष्टयेऽर्द्धत्रिमाससहीने चतुर्थकालस्य ।
शेषे कार्तिककृष्णचतुर्दश्यां निर्वृतिमवाप ॥ ७१ ॥

भगवत्परिनिर्वाणक्षण एवावाप केवलं गणभृत् ।
गौतमनामा सोऽपि द्वादशभिर्वत्सरैर्मुक्तः ॥ ७२ ॥
निर्याणक्षण एवासावावाप्तकेवलं सुधर्ममुनिः ।
द्वादशवर्षाणि विहृत्य सोऽपि मुक्तिं परामाप ॥ ७३ ॥
जम्बूनामाऽपि ततस्तन्निर्वृतिसमय एव कैवल्यम् ।
प्राप्याष्टत्रिंशतामिह समा विहृत्याप निर्वाणम् ॥ ७४ ॥
एते त्रयोऽपि मुनयोऽनुबद्धकेवलविभूतयोऽमीषाम् ।
केवलदिवाकरोऽस्मिन्नस्तमवाप व्यतिक्रान्ते ॥ ७५ ॥
जम्बूनामा मुक्तिं प्राप यदासौ तथैव विष्णुमुनिः ।
पूर्वाङ्गभेदभिन्नाशेषश्रुतपारगो जातः ॥ ७६ ॥
एवमनुबद्धसकलश्रुतसागरपारगामिनोऽत्रासन् ।
नन्द्यपराजितगोवर्धनाह्वया भद्रबाहुश्च ॥ ७७ ॥
एषां पञ्चानामपि काले वर्षशतसम्मितेऽतीते ।
दशपूर्वविदोऽभूवँस्तत एकादश महात्मानः ॥ ७८ ॥
तेषामाद्यो नाम्ना विशाखदत्तस्ततः क्रमेणासन् ।
प्रोष्ठिलनामा क्षत्रियसंज्ञो जयनागसेनसिद्धार्थाः ॥ ७९ ॥
धृतिषेणविजयसेनौ च बुद्धिमान्गङ्गधर्मनामानौ ।
एतेषां वर्षशतं त्र्यशीतियुतमजनि युगसंख्या ॥ ८० ॥
नक्षत्रो जयपालः पाण्डुर्द्रुमसेनकंसनामानौ ।
एते पञ्चापि ततो बभूवुरेकादशाङ्गधराः ॥ ८१ ॥
विंशत्यधिकं वर्षशतद्वयमेषां बभूव युगसंख्या ।
आचाराङ्गधराश्चत्वारस्तत उद्भवन् क्रमशः ॥ ८२ ॥
प्रथमस्तेषु सुभद्रोऽभयभद्रोऽन्याऽपरोऽपि जयबाहुः ।
लोहार्योऽन्त्यश्चैतेऽष्टादशवर्षयुगसंख्या ॥ ८३ ॥

विनयधरः श्रीदत्तः शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्तनामैते।
आरातीया यतयस्ततोऽभवन्नङ्गपूर्वदेशधराः॥ ८४॥
सर्वांगपूर्वदेशैकदेशवित्पूर्वदेशमध्यगते।
श्रीपुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्वल्याख्यः॥ ८५॥
स च तत्प्रसारणाधारणाविशुद्धातिसत्क्रियोद्युक्तः।
अष्टांगनिमित्तज्ञः संघानुग्रहनिग्रहसमर्थः॥ ८६॥
आस्त संवत्सरपञ्चकावसाने युगप्रतिक्रमणम्।
कुर्वन्योजनशतमात्रवर्तिमुनिजनसमाजस्य॥ ८७॥
अथ सोन्यऽदा युगान्ते कुर्वन् भगवान्युगप्रतिक्रमणम्।
मुनिजनवृन्दमपृच्छत्किं सर्वेऽप्यागता यतयः॥ ८८॥
तेऽप्यूचुर्भगवन्वयमात्मात्मीयेन सकलसंघेन।
समागतास्ततस्तद्वचः समाकर्ण्य सोऽपि गणी॥ ८९॥
काले कलावमुष्मिन्नितः प्रभृत्यत्र जैनधर्मोऽयम्।
गणपक्षपातभेदैः स्थास्यति नोदासभावेन॥ ९०॥
इति सञ्चिन्त्य गुहायाः समागता ये यतीश्वरास्तेषु।
काँश्चि'न्नंद्य'भिधानान् काँश्चि'द्वीरा'ह्वयानकरोत्॥ ९१॥
प्रथितादशोकवाटात्समागता ये मुनीश्वरास्तेषु।
काँश्चि'दपराजिता'ख्यान्काँश्चि'द्देवा'ह्वयानकरोत्॥ ९२॥
पञ्चस्तूप्यनिवासादुपागता येऽनगारिणस्तेषु।
काँश्चि'त्सेना'भिख्यान्काँश्चि'द्भद्रा'भिधानकरोत्॥ ९३॥
ये शाल्मलीमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपागतास्तेषु।
काँश्चिद् 'गुणधर'संज्ञान्काँश्चिद्'गुप्ता'ह्वयानकरोत्॥ ९४॥
ये खण्डकेसरद्रुममूलान्मुनयः समागतास्तेषु।
काँश्चि'त्सिंहा'भिख्यान्काँश्चि'च्चन्द्रा'ह्वयानकरोत्॥ ९५॥

उक्तं च—

आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटा-
द्देवाश्चान्योऽपरादिर्जित इति यतिपौ सेनभद्राह्वयौ च।
पञ्चस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधरवृषभः शाल्मलीवृक्षमूला-
न्निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात् ९६

अन्ये जगुर्गुहाया विनिर्गता 'नन्दिनो' महात्मानः।
'देवा'श्चाशोकवनात्पञ्चस्तूप्यास्ततः 'सेनः' ॥ ९७ ॥

विपुलतरशाल्मलीद्रुममूलगतावासवासिनो 'वीराः'।
'भद्रा'श्च खण्डकेसरतरुमूलनिवासिनो जाताः ॥ ९८ ॥

गुहायां वासितो ज्येष्ठो द्वितीयोऽशोकवाटिकात्।
निर्यातौ 'नन्दि''देवा'भिधानावाद्यावनुक्रमात् ॥ ९९ ॥

पञ्चस्तूप्यास्तु 'सेना'नां 'वीरा'णां शाल्मलीद्रुमः।
खण्डकेसरनामा च 'भद्रः' 'सिंहो'ऽस्य सम्मतः ॥ १०० ॥

एवं तस्यार्हद्बलेर्मुनिजनसङ्घप्रवर्तकस्यासन्।
विनययजना मुनीन्द्राः पञ्चकुलाचारतोपास्याः ॥१०१॥

तस्यानंतरमनगारपुङ्गवो माघनन्दिनामाऽभूत्।
सोऽप्यङ्गपूर्वदेशं प्रकाश्य समाधिना दिवं यातः॥१०२॥

देशे ततः सुराष्ट्रे गिरिनगरपुरान्तिकोर्जयन्तगिरौ।
चंद्रगुहाविनिवासी महातपाः परममुनिमुख्यः ॥१०३॥

अग्रायणीयपूर्वास्थितपंचमवस्तुगतचतुर्थमहा-।
कर्मप्राभृतकज्ञः सूरिर्धरसेननामाऽभूत् ॥ १०४ ॥

सोऽपि निजायुष्यान्तं विज्ञायास्माभिरलमधीतमिदम्।
शास्त्रं व्युच्छेदमवाप्स्यतीति सञ्चिन्त्य निपुणमतिः ॥ १०५ ॥

देशेन्द्रदेशनामनि वेणाकतटीपुरे महामहिमा ।
समुदितमुनीन् प्रति ब्रह्मचारिणा प्रापयल्लेखम् ॥ १०६ ॥
आदाय लेखपत्रं तेऽप्यथ तद्ब्रह्मचारिणो हस्तात् ।
प्रविमुच्य बन्धनं वाचयाम्बभूवुस्तदा महात्मानः ॥१०७॥
स्वस्ति श्रीमत इत्यूर्जयन्ततटनिकटचन्द्रगुहा-
वासाद्धरसेनगणी वेणाकतटसमुदितयतीन् ॥ १०८ ॥
अभिवन्द्य कार्यमेवं निगदत्यस्माकमायुरवशिष्टम् ।
स्वल्पं तस्मादस्मच्छ्रुतस्य शास्त्रस्य व्युच्छित्तिः ॥ १०९ ॥
न स्याद्यथा तथा द्वौ यतीश्वरौ ग्रहणधारणसमर्थौ ।
निशितप्रज्ञौ यूयं प्रस्थापयतेति लेखार्थम् ॥ ११० ॥
सम्यगवधार्य तैरपि तथाविधौ द्वौ मुनी समन्विष्य ।
प्रहितौ तावपि गत्वा चापतुररमूर्जयन्तगिरिम् ॥ १११ ॥
आगमनदिने च तयोः पुरैव धरसेनसूरिरपि रात्रौ ।
निजपादयोः पतन्तौ धवलवृषावैक्षत स्वप्ने ॥ ११२ ॥
तत्स्वप्नेक्षणमात्राज्जयतु श्रीदेवतेति समुपलपन् ।
उदतिष्ठदतः प्रातः समागतावैक्षत मुनी द्वौ ॥ ११३ ॥
प्राघूर्णिकोचितविधिं तयोर्विधायादरात्ततस्ताभ्याम् ।
विश्राम्य त्रीन्दिवसान् निवेदितागमनहेतुभ्याम् ॥ ११४ ॥
सुपरीक्षा हृन्निर्वृतिकरीति सञ्चिन्त्य दत्तवान् सूरिः ।
साधयितुं विद्ये द्वे हीनाधिकवर्णसंयुक्ते ॥ ११५ ॥
श्रीमन्नेमिजिनेश्वरसिद्धिशिलायां विधानतो विद्या-
संसाधनं विदधतोस्तयोश्च पुरतः स्थिते देव्यौ ॥ ११६ ॥
हीनाक्षरविद्यासाधकस्य देव्येकलोचनाग्रेऽस्थात् ।
अधिकाक्षरविद्यासाधकस्य सा दन्तुरा तस्थौ ॥ ११७ ॥

दृष्ट्वा ताविति देव्यौ न देवतानां स्वभाव एष इति ।
प्रविचिन्त्य ततो विद्यामंत्रव्याकरणविधिनैव ॥ ११८ ॥
प्रस्तार्य न्यूनाधिकवर्णक्षेपापचयविधानेन ।
पुनरपि पुरतश्च तयोर्देव्यौ ते दिव्यरूपेण ॥ ११९ ॥
केयूरहारनूपुरकटककटीसूत्रभासुरशरीरे ।
अग्रे स्थित्वा वदतां किं करणीयं प्रवदतेति ॥ १२० ॥
तावप्यूचतुरेतन्नास्माकं कार्यमस्ति तत्किमपि ।
ऐहिकपारत्रिकयोर्भवतीभ्यां सिध्यति यदत्र परम् ॥ १२१ ॥
किन्तु गुरुनियोगादावाभ्यां विहितमेतदिति वचनम् ।
श्रुत्वा तयोरभीष्टं ते जग्मतुः स्वास्पदं देव्यौ ॥ १२२ ॥
विद्यासाधनमेवं विधाय तोषात्ततो गुरोः पार्श्वम् ।
गत्वा तौ निजवृत्तान्तमवदतां तद्यथावृत्तम् ॥ १२३ ॥
सोऽप्यतियोग्याविति सञ्चिन्त्य ततः सुप्रशस्ततिथिवेला-॥
नक्षत्रेषु तयोर्व्याख्यातुं प्रारब्धवान् ग्रन्थम् ॥ १२४ ॥
ताभ्यामप्यध्ययनं कुर्वाणाभ्यामपास्ततन्द्राभ्याम् ।
परममविलङ्घयभ्यां गुरुविनयं ज्ञानविनयं च ॥ १२५ ॥
दिवसेषु कियत्स्वपि गतेष्वथाषाढमासि सितपक्षे ।
एकादश्यां च तिथौ ग्रन्थसमाप्तिः कृता विधिना ॥१२६॥
तद्दिन एवैकस्य द्विजपंक्तिं विषमितामपास्य सुरैः ।
कृत्वा कुन्दोपमितां नाम कृतं पुष्पदन्त इति ॥ १२७ ॥
अपरोऽपि तुर्यनादैर्जयघोषैर्गन्धमाल्यधूपाद्यैः ।
भूतपतिरेष इत्याहूतो भूतैर्महं कृत्वा ॥ १२८ ॥
स्वासन्नमृतिं ज्ञात्वा मा भूत्संक्लेशमेतयोरस्मिन् ।
इति गुरुणा सञ्चिन्त्य द्वितीयदिवसे ततस्तेन ॥ १२९ ॥

प्रियहितवचनैरमुष्य तावुभावेव कुरीश्वरं प्रहितौ ।
तावपि नवभिर्दिवसैर्गत्वा तत्पत्तनमवाप्य ॥ १३० ॥
योगं प्रगृह्य तत्राषाढे मास्यसितपक्षपञ्चम्याम् ।
वर्षाकालं कृत्वा विहरन्तौ दक्षिणाभिमुखं ॥ १३१ ॥
जग्मतुरथ करहाटे तयोः स यः पुष्पदन्तनाममुनिः ।
जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वाऽसौ भागिनेयं स्वम् ॥ १३२ ॥
दत्वा दीक्षां तस्मै तेन समं देशमेत्य वनवासम् ।
तस्थौ भूतबलिरपि मधुरायां द्रविडदेशेऽस्थात् ॥ १३३ ॥
अथ पुष्पदन्तमुनिरप्यध्यापयितुं स्वभागिनेयं तम् ।
कर्मप्राकृतिप्राभृतमुपसंहार्यैव षड्भिरिह खण्डैः ॥ १३४ ॥
वांच्छन् गुणजीवादिकविंशतिविधसूत्रसत्प्ररूपणया ।
युक्तं जीवस्थानाद्यधिकारं व्यरचयत्सम्यक् ॥ १३५ ॥
सूत्राणि तानि शतमध्याप्य ततो भूतबलिगुरोः पार्श्वम् ।
तदभिप्रायं ज्ञातुं प्रस्थापयदगमदेषोऽपि ॥ १३६ ॥
तेन ततः परिपठितां भूतबलिः सत्प्ररूपणां श्रुत्वा ।
षट्खण्डागमरचनाभिप्रायं पुष्पदन्तगुरोः ॥ १३७ ॥
विज्ञायाल्पायुष्यानल्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य ततः ।
द्रव्यप्ररूपणाद्यधिकारः खण्डपञ्चकस्यान्वक् ॥ १३८ ॥
सूत्राणि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि ।
प्रविरच्य महाबन्धाह्वयं ततः षष्ठकं खण्डम् ॥ १३९ ॥
त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा ।
तेषां पञ्चानामपि खण्डानां शृणुत नामानि ॥ १४० ॥
आद्यं जीवस्थानं क्षुल्लकबन्धाह्वयं द्वितीयमतः ।
बन्धस्वामित्वं भाववेदनावर्गणाखण्डे ॥ १४१ ॥

एवं षट्खण्डागमरचनां प्रविधाय भूतबल्यार्यः।
आरोप्यासद्भावस्थापनया पुस्तकेषु ततः॥ १४२॥
ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम्॥ १४३॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः॥ १४४॥
जिनपालितं ततस्तं भूतबलिः पुष्पदन्तगुरुपार्श्वम्।
षट्खण्डान्यप्यध्यगमयत्तत्पुस्तकसमेतम्॥ १४५॥
अथ पुष्पदन्तगुरुरपि जिनपालितहस्तसंस्थितमुदीक्ष्य।
षट्खण्डागमपुस्तकमहो मया चिंतितं कार्यम्॥ १४६॥
सम्पन्नमिति समस्तांगोत्पन्नमहाश्रुतानुरागभरः।
चातुर्वर्ण्यसुसंघान्वितो विहितवान् क्रियाकर्म॥ १४७॥
गन्धाक्षतमाल्याम्बरवितानघण्टाध्वजादिभिः प्राग्वत्।
श्रुतपञ्चम्यामकरोत्सिद्धान्तसुपुस्तकमहेज्याम्॥ १४८॥
एवं षट्खण्डागमसूत्रोत्पत्तिं प्ररूप्य पुनरधुना।
कथयामि कषायप्राभृतस्य सत्सूत्रसम्भूतिम्॥ १४९॥
ज्ञानप्रवादसंज्ञकपञ्चमपूर्वस्थदशमवस्तुतृतीय-।
प्राभृतदोषप्राभृतकज्ञोऽभूद् गुणधरमुनीन्द्रः॥ १५०॥
गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात्॥ १५१॥
अथ गुणधरमुनिनाथः सकषायप्राभृतान्वयं तत्प्रायो-।
दोषप्राभृतकापरसंज्ञं साम्प्रतिकशक्तिमपेक्ष्य॥ १५२॥
त्र्यधिकाशीत्या युक्तं शतं च मूलसूत्रगाथानाम्।
विवरणगाथानां च त्र्यधिकं पञ्चाशतमकार्षीत्॥१५३॥

एवं गाथासूत्राणि पञ्चदशमहाधिकाराणि ।
प्रविरच्य व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमंक्षुभ्याम् ॥ १५४ ॥
पार्श्वे तयोर्द्वयोरप्यधीत्य सूत्राणि तानि यतिवृषभः ।
यतिवृषभनामधेयो बभूव शास्त्रार्थनिपुणमतिः ॥ १५५ ॥
तेन ततो यतिपतिना तद्गाथावृत्तिसूत्ररूपेण ।
रचितानि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ चूर्णिसूत्राणि ॥ १५६ ॥
तस्यान्ते पुनरुच्चारणादिकाचार्यसंज्ञकेन ततः ।
सूत्राणि तानि सम्यगधीत्य ग्रन्थार्थरूपेण ॥ १५७ ॥
द्वादशगुणितसहस्रग्रन्थान्युच्चारणाख्यसूत्राणि ।
रचितानि वृत्तिरूपेण तेन तच्चूर्णिसूत्राणाम् ॥ १५८ ॥
गाथाचूर्ण्युच्चारणसूत्रैरुपसंहृतं कषायाख्य-।
प्राभृतमेवं गुणधरयतिवृषभोच्चारणाचार्यैः ॥ १५९ ॥
एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन् ।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥ १६० ॥
श्रीपद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिणामः ।
ग्रन्थपरिकर्मकर्त्रा षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥ १६१ ॥
काले ततः कियत्यपि गते पुनः शामकुण्डसंज्ञेन ।
आचार्येण ज्ञात्वा द्विभेदमप्यागमः कार्त्स्न्यात् ॥ १६२ ॥
द्वादशगुणितसहस्रं ग्रन्थं सिद्धान्तयोरुभयोः ।
षष्ठेन विना खण्डेन पृथुमहाबन्धसंज्ञेन ॥ १६३ ॥
प्राकृतसंस्कृतकर्णाटभाषया पद्धतिः परा रचिता ।
तस्मादारात्पुनरपि काले गतवति कियत्यपि च ॥ १६४ ॥
अथ तुम्बुलूरनामाऽचार्योऽभूत्तुम्बुलूरसद्ग्रामे ।
षष्ठेन विना खण्डेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुभयोः ॥ १६५ ॥

चतुरधिकाशीतिसहस्रग्रन्थरचनया युक्ताम् ।
कर्णाटभाषयाऽकृत महतीं चूडामणिं व्याख्याम् ॥ १६६ ॥
सप्तसहस्रग्रन्थां षष्ठस्य च पञ्चिकां पुनरकार्षीत् ।
कालान्तरे ततः पुनरासन्ध्यां पलरि (?) तार्किकार्कोऽभूत् ॥
श्रीमान् समन्तभद्रस्वामीत्यथ सोऽप्यधीत्य तं द्विविधम् ।
सिद्धान्तमतः षट्खण्डागमगतखण्डपञ्चकस्य पुनः ॥१६८॥
अष्टौ चत्वारिंशत्सहस्रसद्ग्रन्थरचनया युक्ताम् ।
विरचितवानतिसुन्दरमृदुसंस्कृतभाषया टीकाम् ॥ १६९ ॥
विलिखन् द्वितीयसिद्धान्तस्य व्याख्यां सधर्मणा स्वेन ।
द्रव्यादिशुद्धिकरणप्रयत्नविरहात्प्रतिनिषिद्धम् ॥ १७० ॥
एवं व्याख्यानक्रममवाप्तवान् परमगुरुपरम्परया ।
आगच्छन् सिद्धान्तो द्विविधोऽप्यतिनिशितबुद्धिभ्याम् १७१
शुभरविनन्दिमुनिभ्यां भीमरथिकृष्णमेखयोः सरितोः ।
मध्यमविषये रमणीयोत्कलिकाग्रामसामीप्यम् ॥ १७२ ॥
विख्यातमगणवल्लीग्रामेऽथ विशेषरूपेण ।
श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेषं बप्पदेवगुरुः ॥ १७३ ॥
अपनीय महाबन्धं षट्खण्डाच्छेषपञ्चखण्डे तु ।
व्याख्याप्रज्ञप्तिं च षष्ठं खण्डं च तत संक्षिप्य ॥ १७४ ॥
षण्णां खण्डानामिति निष्पन्नानां तथा कषायाख्य- ।
प्राभृतकस्य च षष्टिसहस्रग्रन्थप्रमाणयुताम् ॥ १७५ ॥
व्यलिखत्प्राकृतभाषारूपां सम्यक्पुरातनव्याख्याम् ।
अष्टसहस्रग्रन्थां व्याख्यां पञ्चाधिकां महाबन्धे ॥ १७६ ॥
काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी ।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥ १७७ ॥

तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः ।
उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारानष्ट च लिलेख ॥ १७८ ॥

आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान्गुरोरनुज्ञानात् ।
वाटग्रामे चात्राऽऽनतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥ १७९ ॥

व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन् ।
उपरितमबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥ १८० ॥

सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य ।
इति षण्णां खण्डानां ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥ १८१ ॥

प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम् ।
जयधवलां च कषायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनाम् १८२

विंशतिसहस्रसद्ग्रन्थरचनया संयुतां विरच्य दिवम् ।
यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जयसेनगुरुनामा ॥ १८३ ॥

तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैः समापितवान् ।
जलधवलैवं षष्टिसहस्रग्रन्थोऽभवट्टीका ॥ १८४ ॥

एवं श्रुतावतारो निरूपितः श्रीन्द्रनन्दियतिपतिना ।
श्रुतपञ्चम्यामृषिभिर्व्याख्येयो भव्यलोकेभ्यः ॥ १८५ ॥

यत्किञ्चिदत्र लिखितं समयविरुद्धं मयाऽल्पबोधेन ।
अपनीय तदागमतत्त्ववेदिनः शोधयन्तूच्चैः ॥ १८६ ॥

श्लोकद्वयेन वृत्तेनैकेनाशीतिशतमितार्याभिः ।
सप्तोत्तरत्रिशत्या ग्रन्थेनायं परिसमाप्तः ॥ १८७ ॥

॥ इति 'इंद्रनंदि' आचार्यकृतः श्रुतावतारः ॥

श्रीसोमदेवप्रणीता
अध्यात्मतरंगिणी ।

मा स्माऽधः[1] स्ताद्धरित्री दिशतु स परमाः संपदोऽ[2]स्यामविभ्रं[3]·
त्मोदास्ते[4] यः पतत्स्म[5] क्रम इति च कुतो निर्भरं सर्वदा यः ।
माऽगुर्गोत्रक्षितिध्राः[6] क्षितिमिति मरुतः[7] प्रक्षिपन् सूक्ष्मवीक्षान्
मा भूद्व्योम्न्यप्रचारः पवनपथसदां वो यतोऽनूर्द्ध्वबाहुः ॥ १ ॥

पातालांता बभूवुः खलजनजनिता वाक्पथाः[8] कर्णपूराः[9]
क्रुध्यत्येषा च साक्षात्त्वयि मतिविशिनी[10]भानुभासोऽर्चितांगे ।
आशावासोऽ[11]वसाने[12] पवनपरवशैः पांशुभिः कुंतलालि-
मुत्पाद्याऽ[13]मूलमेनोद्रुमगहनजटाजालवल्लीतमोहे ॥ २ ॥

प्राणेशो धारणायां चतुरवयवजे संप्रयोगे[14] धियोऽर्थे[15]
प्रत्याहारो[16]ऽक्षवृत्तेः स्वविषयविशसत् शुकस्त्युदर्के वितर्के ।
ध्याने तद्ध्येयलीने[17] यमनियमपथावस्थिते क्षेत्रनाथे
माध्यस्थ्याब्धौ समाधौ समधिकधिषणो योगनिद्रामुपैति ॥ ३ ॥

---

१ पातालतले । २ विभूताः । ३ अधरन् । ४ उदासीनो बभूव । ५ मा स्म पतत् मा स्म गच्छत् इति भावः । ६ कुलपर्वताः । ७ वायून् ८ वचनमार्गाः । ९ कर्णाभरणानि १० मतिर्बुद्धिः सैव बिसिनी कमलिनी तस्याः विकासायाऽऽदित्यदीप्तयः । ११ दिग्वस्त्रं । १२ परिदधाने । १३ मूलोन्मूलं यथा भवति तथा । १४ समीचीनसंयोगे । १५ द्रव्यपर्यायात्मकेऽर्थे । १६ प्रत्याहारो हि व्यावर्त्तनं अक्षवृत्तेः । कस्मात्, स्वविषयनिसरादात्मीयोपभोग्ये रूपरसादौ विसरस्तस्मात् ।
१७ शुद्धात्मस्वभावतत्परे ।

यः पात्रं नास्ति मैत्र्याः प्रशममुपगता यस्य नाऽऽशा पिशाची
न स्थैर्यं यस्य चित्ते स्मरदहनशिखाः शांतिभाजो न यस्य ।
यः क्लेशानामसोढा करणपरणतिः स्वस्य[1] वश्या कथं नो[2]
त्वद्ध्यानं भो ! विधित्सुर्भवति स महतां नोपहासाय देही[3] ४ ।

चर्चां देहे ददाने [4]द्विषति [5]भंजति वा कर्दमैः कुंकुमैर्वा
नो खेदः सम्मदो[6] वा [7]पितृवनपटकैर्दिव्यचीनांशुकैर्वा ।
येषां द्वेषोऽर्थभीष्टे[8] हसति नमति वा निंदितैः संस्तुतैर्वा
संबंधं ते धृताशा दधतु [9]विदधतीष्टां धृतिं वोऽपि भूयः ॥ ५ ॥

भूयांसि त्वं महांसि[10] क्षिप[11] तपन[12] ! परं शुष्यदाशानभांसि[13]
ज्यायांसि[14] त्वं पयांसि[15] क्षर[16] मिहर[17] ! खरं क्षुभ्यदुर्वीमनांसि[18] ।
सोजांसि[19] त्वं रजांसि सृज पवन ! हिमं भूरि मूर्च्छत्तरांसि[20]
श्रेयांसि स्वावभांसि[21] त्यजति न धृतधीरेष नूनं रहांसि ॥ ६ ॥

पुत्रप्रीत्याऽहिबालं कलयति नकुली सिंहशावं करेणु-[22]
र्वाहापत्यं लुलायी[23] प्रमुदितहृदया व्याघ्रपोतं कुरंगी[24] ।
दूरारूढिप्रगाढाद्विगलदविकलध्यांतजालात्त्वदीया-
दित्थं ध्यानावधानादजनिषत मिथो जंतवोऽमी वनेऽपि ॥ ७ ॥

आनंदस्यंदिबिंदूद्गमनजटलिते लोचने निःप्रकंपे
यद्ध्याने नावसेयः कथमपि मरुतां गंधवाहांतराले ।

---

१ आत्मनः । २ उपहासाय कथं न भवत्यपि तु भवत्येव । ३ शरीरी । ४ रिपौ । ५ भृत्ये । ६ हर्षः । ७ श्मशानकुचीवरैः । ८ शत्रुमित्रयोः । ९ कुर्वाणे । १० तेजांसि । ११ प्रेरय । १२ हे सूर्य । १३ दिगाकाशशोषकानि । १४ प्रचुराणि । १५ जलानि । १६ मुंच । १७ हे मेघ । १८ मूर्च्छितप्राणिक्षोभकानि । १९ समर्थानि । २० जगन्मूर्च्छकानि । २१ स्वप्रकाशकानि । २२ हस्तिनी । २३ महिषी । २४ हरिणी ।

रोमांचोदंचवृद्धिर्भवति च सरणं कोऽप्यवाक् स प्रकाशो
ध्यानं धन्योऽयमुच्चैर्दधदपधुनतात्साध्वसं वः स योगी ॥ ८ ॥

ये लक्ष्मीणां विनोदे स्वयमुदयपरेऽपि प्रसादे महेच्छा
ध्यानर्द्धीनां प्रभावे त्रिदशमृगदृशां दिव्यभोगोपसेवे ।
कल्पद्रूणां प्रचारे भुवि दिवि दिशि वा कामचारे विहारे
वीतेच्छा धाम ते वस्तदसमविभवं योगिनो वर्द्धयंतु ॥ ९ ॥

आत्मव्योमप्रकामभ्रमभिदुरतनुं यो मनोराजहंसं
योगोद्योगप्रयोगोन्मिषदमृतरसास्वादमंदप्रचारम् ।
निःसंज्ञीकृत्य सर्वेन्द्रियविधिविगमादुच्छ्से देहगेहे
सानाथ्यं संविधत्ते प्रशमयतु स वो निर्ममः कर्मधर्मम् ॥ १० ॥

ब्रह्मग्रंथेरुदीर्णं तदनु च सुचिरं नाभिपद्मेऽवतीर्णं
हृत्पंकजे प्रकीर्णं परिचितरसने तालुरंध्रे विशीर्णम् ।
चक्षुर्भ्रूभालमूर्द्धान्तरपरिसरणोपास्तनिस्तीर्णविघ्नं
यस्यासीत्स्वांतमित्थं प्रथयतु पृथुतां प्रार्थितैर्वः स मान्यः ॥ ११ ॥

श्रद्धा सिद्धौषधेः स्यात्पुरुषरसरतिर्ध्यानवैश्वानरोऽस्मि-
न्निःसंग्येधप्रवृद्धे शमवगमदृढाधारसंबंधनेन ।

१ प्रबलपुलकालिवृद्धिः । २ वाचामगोचरः । ३ दूरीकुर्यात् "धूञ् कंपने" धातुः । ४ स्वयमुदयप्राप्ते । ५ कल्पवृक्षाणां । ६ इच्छाचारे ७ अद्वितीयैश्वर्यं । ८ शून्ये । ९ सनाथस्य भावो सानाथ्यं स्वामित्वमित्यर्थः । १० ममता-हीनः । ११ कर्मणां तापं । १२ सर्वांतर्जालमूलात् । १३ पश्चाच्चिरकालं यथा भवति १४ आयातं । १५ परिवर्त्तनं । १६ ध्यानी । १७ सम्यग्दर्शनं तदेव सिद्धा निष्पन्ना परमौषधिस्तस्याः । १८ पुरुष आत्मा स एव रसः पारदः तस्या रती रमणं । १९ ध्यानाग्नौ । २० काष्ठ । २१ शम्+अवगम ।

संजायेतार्थसिद्धिः कथमिति न परो देहिलोहे[2] जनस्य
पश्चाद्व्योमोपयोगाल्लघु समधिगते कांचनाऽऽस्थां रसेंद्रे ॥ १२ ॥

वैराग्यापारवारेः[4] प्रशमदमदयोदीर्णमार्गत्रयायाः
सम्यग्ज्ञानोन्मदोर्म्मेर्मतिसुरसरितः सत्यतीर्थे स्थितानाम्।
जन्मोच्छेदो नराणां द्रवदखिलमलस्वांतसंतोषभाजां
ध्यानस्नानानुबंधान्न हि भवति परां तीरिणीं याँचितानाम् १३

लक्ष्यं त्रैलोक्यमर्थोऽस्य पुनरचयवः पर्ययस्तस्य कश्चित्
यश्चित्तस्याग्रनासानयननिलयने रूपकेऽणुस्ततो ह्रुत्।
स्वं ध्यानी तद्विसृज्य प्रविसरणवशाज्जन्मबीजं पिनष्टि
स्वस्मिंस्तत्सर्वसत्त्वोत्सवकरचरितश्चैकमासीद्विधानः ॥ १४ ॥

एकं चिंतानिरोधात्पुनरिदमुभयं ध्यानमांतर्मुहूर्त्तं
साद्भूयोऽदश्चतुर्धा पुनरिदमपरे षोडशांशं ध्वनंति।
तिर्यक्श्वभ्रद्युमोक्षप्रदमवहिततोद्योगसाम्येऽपि धर्म्यं
धूमध्वांतस्वभावात्तदपि दशविधं वह्निभानुक्रमेण ॥ १५ ॥

एकत्र स्थैर्यसारा मतिरभिलषिते चंचला वस्तुतत्त्वे
ध्यातुं व्यावृत्त्य चित्तं विविधनयमनुप्रेक्षणं चिंतनं नु।
संप्रश्नो भावना वा श्रुतविदितपदालोचनं ख्यापना वा
ध्यानाधीना अमी तत् समभिदधुरघौघादनं ध्यानमीशाः॥१६॥

कालोऽस्यांतर्मुहूर्त्तः परम इह परः पंचलध्वक्षरः स्या-
च्चित्तानां दुर्धरत्वादतिचपलतया तत्परो नास्ति कालः।

१ उत्कृष्टा। २ देही आत्मा एव लोहं तस्मिन् लोहं किट्टकालिकाकलितमयोरूपतां धत्ते तथा जीवोप्यंतर्बहिः किट्टाक्रांतत्वात्स्वभावतां प्रतिपद्यते। ३ पक्षेऽश्रकं। ४ समुद्रस्य। ५ नदीं। ६ पापपदवि नाशकम्। ७ ध्यानस्य।

तावन्मात्रेऽपि काले हुतभुगिव भवेद् ध्यानमुच्चैरघानां[1]
ध्वंसायोर्वीधराणां[2] ज्वलदचलतया वज्रसंपातजन्मा ॥ १७ ॥
विष्वक्संस्थानदेहे[6] गतिषु चतसृषु प्राणिनि स्तः संहृत्के
सर्वस्मिन्नार्त्तरौद्रे विकलकरणके तत्र योगोपयोगः।
उत्कृष्टं धर्ममुक्तं यतिषु सुरपशुश्वभ्रिषंढावलानां
मर्त्येष्वन्येषु तद्वै दृशि[11] निखिलविदश्चाप्यनुत्कृष्टमाहुः ॥ १८ ॥
आद्यं शुक्लं त्रिसंहत्युचिततनुविधावाद्यसंहत्युपेते[12]
विज्ञेयं तत्रयं स्यादितरदपि नरे क्वाऽपि कालाद्यपेक्षम्[13]।
कोऽधीशो मातुमेतां परणतिमितरां कर्त्तुमानंत्यकृते-
स्तत्तद्बाह्यांतरंगाश्रयविषयवशाऽऽवेशभूयोवताराम् ॥ १९ ॥
नाऽऽशास्ते[14] प्रांसमिष्टं सदपि न मनुते नैव शोचत्यतीतं
न द्वेषोऽनिष्टसंगे न च कलुषमतिर्वाण्यभावाभिलाषी।
मायाऽसूयांगशोभामदमदनकथालोकयात्रातिगश्च
प्रोन्मुंचेदार्त्तमेतत्पशुगतिफलदं यः स्तवायास्तु वः सः ॥२०॥
येषां हिंसा न सत्त्वे क्वचिदपि वचसां येषु नाऽसत्यभावो
येषां चित्तं न वित्ते परवति[16] निजके येषु रक्षा न चांगे।
ध्यानाद्ये रौद्रसंज्ञादुपरतमतयः श्वभ्रवेशाविदूरा[17]-
द्रोषद्वेषप्रमोषार्थ्यहविधिविधुराः प्रीतये संतु ते वः ॥ २१ ॥

---

१ धर्मशुक्लस्वभावं। २ पापानां। ३ पर्वतानां। ४ भास्वर-स्थिरतररूपेणेति भावः। ५ दंभोलिदलनोद्भूत अग्निरित्यर्थः। ६ शरीरपंचके। ७ भवतः। ८ नारकः। ९ नपुंसकः। १० अव्रतेषु। ११ दर्शने सति। १२ वज्रवृषभवज्रनाराचनाराचैः कृतकाये। १३ कालश्चतुर्थः समयः पूर्वविदेहोत्पन्नविशुद्धलेश्याकीलितोपकलितकायस्याऽपि प्रथमं शुक्लं भवतीत्यर्थः। १४ नेच्छति। १५ कीर्त्तनाय। १६ अन्यदीये। १७ नरकप्रवेशनिकटात्। १८ चौरर्यं।

याथात्म्यं धर्ममाहुस्तदिह बहुधियो वस्तुजातेश्च सर्वे
हर्षामर्षाभिषंगप्रविकलमनसां स्यात्सदालंबमेषाम् ।
तद्ध्यानाधीनधीनां प्रतिगमविगमान्मोहमूलं लुनंति
तस्मिन्पंचावबोधीपरिकलितकले क्वाऽपि तत्त्वे कृताऽऽस्थाः ॥ २२ ॥

आज्ञा सर्वज्ञवाणी निजवृजिनजयोपायचिंता त्वपायः
कर्मोद्रेको विपाकस्त्रिभुवनरचनाऽऽलंबि संस्थानमुक्तम् ।
तत्राऽयं स्याद्विवेको विचय इह ततो योगिनः स्युः कदाचित्
नाकस्त्रीनेत्रनीलोत्पलवनसुहृदः कर्मपाशच्छिदो वा ॥ २३ ॥

धर्मध्यानप्रबंधाभ्यसनसमधिकास्थैर्यलब्धावतारे
प्राणायामोर्म्यबाधाऽऽसनजयहृदयस्थानविज्ञानसारे ।
द्विः श्रोतोवाहिसर्वाऽऽशयशमनसमासन्नसंसारपारे
सिद्धश्चित्तप्रचारैर्भवति कृतमतिः शुक्लयोगोपचारे ॥ २४ ॥

नानाभावः पृथक्त्वं प्रवचनविषयालोकनार्थो वितर्कः
संक्रांतिस्तेन कुर्वन् क्रमविधिवशतो वाचि वाच्ये त्रियोग्याम् ।
वीचारो द्रव्य आद्यः स्थितमणुममलः पर्यये वा द्विमार्गः
कर्मारीणामरीणां स्थितिमनुतनुते स्वर्गगो मोक्षगश्च ॥ २५ ॥

गुप्त्याद्यैः कर्मरुद्धोऽभिपतदुपचितं कर्म सर्वं विधुन्व-
न्नेकत्वेहाविचाराद्वृजिनविजयिनीं वीथिकां गाहमानः।

१ अनवगतार्थोऽयं पाठः । २ धर्मध्यानायत्तमानसः । ३ चलाचलस्वभाव विनाशात् स्थिरीभूतादित्यर्थः । ४ पंचानां बोधानां समाहारः पंचावबोधी तया परिकलिता ज्ञाता कला पर्यायो यस्य तस्मिन् । ५ कृतव्यवस्थाः । ६ अथ वा स्वयं विदितपदार्थतत्त्वस्य सतः परं प्रतिपादयिषोः स्वसिद्धांताविरोधे तत्त्वसमर्थनाय तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वा दाज्ञाविचयः । ७ अनुभवः । ८ कश्मलभावरहितध्यानप्रवर्त्तने । ९ ज्ञानाहुतिभिः ।

एकं वाऽऽश्रित्य योगं क्रमणुमनुसरन् द्रव्यगं भावगं वा
शुक्ले वाऽपि द्वितीये भवति जिनपतिर्घात्यघध्वंसनेन ॥ २६ ॥

सा सा लब्धिस्ततोऽस्मिन् वपुरतिशयवच्चातुरास्याभिरामं
श्रीर्बाह्याऽभ्यंतरी चाद्भुतविभवभवा सर्वसत्त्वप्रमोदः ।
आनंदोऽन्यानपेक्षो दुरघविघटनाद्वेद्यमस्ति स्वकार्ये
नो ते सार्वस्य तस्याः प्रभु न च नियमोऽघेष्विवाऽन्येषु यस्मात्॥

यत्राऽन्येऽप्यंगभाजो न हि सदसि बुभुक्षादिबाधास्तवामी
तद्बाधा तत्र किं ते न च तदुदयवद्वेद्यमन्नादनाय ।
सामान्याऽऽहारहेतावपि मदभिमतं स्थापितांगेऽन्यथाऽस्ति
देवे स्यादन्यथाऽतो रतिरखिलसुखं नास्ति भुक्तौ हि मुक्तिः २८

देवाधीते सुधीर्नाप्यनुपहतमतिर्को वलास्त्वत्पदस्य
योग्या आचारलाभे परममरपदं तेषु त्वद्रूपवत्सु ।

१ क्षिपन् । २ ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्यसम्यक्त्वचारित्रलक्षणः । ३ दानांतरायस्याशेषतः क्षयादनंतप्राणिगणानुग्रहकरं क्षायिकमभयदानं लाभांतरायस्याशेषनिरासात्परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरबलाधानहेतवोऽन्यमनुजाऽसाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्मानंताः प्रतिसमयं पुद्गलाः संबंधमुपयांति सः क्षायिको लाभः, कृत्स्नभोगांतरायस्योन्मूलनादाविर्भूतोऽतिशयानंतो भोगः क्षायिकः कुसुमवृष्ट्यादयो विशेषाः प्रादुर्भवंति, निरवशेषस्योपभोगांतरायस्य प्रलयात्प्रादुर्भूतो अनंतोपभोगः क्षायिको यतः सिंहासनादिभूतयः, सप्तानां प्रकृतीनां क्षयात्क्षायिकं सम्यक्त्वं, चारित्रं द्वेधा मोहापोहात् क्षायिकं चारित्रं, ' ननु वेदनीयकर्मसद्भावात्परमसुखानुपपत्तिरिति वदंतं प्रत्याह, वेदनीयं आत्मीयबुभुक्षादिकार्यकरणसमर्थं न यतः मोहनीयांतरायप्रासेः सकाशात्समर्थो भवति, उदयप्राप्तं वेदनीयमन्नादाननिमित्तं न भवति; शुभसूक्ष्मदेहस्थितिनिबंधनपरमाणुसंबंधनिमित्तं, किं भूतं ममाऽभिप्रेतं तस्मादनंतसुखसाहितस्य केवलिनः कवलाऽऽहारकल्पनं न युक्तमिति । ४ ना जनः संशयविपर्यासानध्यवसायरहितमतिः । ५ मोक्षस्य । ६ अर्हद्रूपयुक्तेषु ।

स्थानं नैवोत्तरेषु प्रतिनिधिनिधिषु क्लीवयोषिज्जनानां ।
दौश्चित्यस्याविशेषे यद्यपि न नरवच्छ्वभ्रमुच्चैर्भजंते[1] ॥ २९ ॥

पौष्पी वृष्टिः प्रभाणां वलयमसदृशं दुंदुभीनां निनाद–
स्त्रीणि छत्राण्यशोको द्युतरुरुभयतश्चामराणां प्रचारः ।
उक्तिश्चित्राभिधेये हरिभिरभिधृतं पीठमत्यद्भुतार्थौ[5]
लक्ष्मीरन्याऽपि शक्रः परिचरति मुदा देवसाम्राज्यमेतत् ॥ ३० ॥

ध्येयं स्मार्यं न किंचिद्भगवति निखिलाध्यक्षपक्षावसेये[6]
तत्रैतद्ध्यानमीहाऽसमकलुषतयाँ तत्समत्वार्थं याऽपि ।
तत्साम्ये तद्व्यपायावहसमयसमावेक्षणा वा मनीषा
नो चेदात्मप्रदेशव्यसनसमसनारंभणौ[10] वा प्रयत्नः ॥ ३१ ॥

आयुष्यंतर्मुहूर्त्ते सति समयचतुष्कावधावेव काले
कृत्वा दंडं कपाटं प्रतरमथ जगत्पूरणं चाप्यसौ स्वम् ।
संक्षिप्याघातिकर्माहितसदृशदृशः पूर्वदेहप्रमाणः
सूक्ष्मैकांगोऽन्ययोगप्रविगमं[11]करणात्स्यात्सयोगी तृतीये ॥ ३२ ॥

---

१ पापचित्तस्य विशेषाभावेऽपि सप्तमं नरकं न यांतीति भावः । २ सार्द्धद्वादशकोटिवाद्यानां । ३ अत्र छंदस्येकमात्रान्यूनत्वं "म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्" इत्युक्तस्रग्धरालक्षणत्वात् 'छत्राणि त्रीण्यशोको' इति पाठात्तु वृत्तदोषः । ४ वाणी । ५ मतल्लिका । ६ ज्ञातव्ये । ७ विषमस्थितिकर्मतया । ८ अघातिकर्मणां समस्थितिं कर्त्तुं । ९ विश्लेषः । १० आत्मा जीवस्तस्य प्रदेशा जीवसंश्लेषस्वभावनामगोत्रवेदनीयपरिणामास्तेषां व्यसनं दंडादिरूपतया क्षेपणं समसनं लोकप्रतररूपेणारोपणं तयोरारंभणं यत्नः, न हि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया ज्ञानानंदाद्यनेकस्वभावस्य परमात्मनो ध्यानरूपताऽस्ति परं प्रामाणिकैः प्रत्यक्षादिप्रमाणैः परमात्मनि तथा तथा स्वाभाविकीं परिणतिं परिच्छेद्य तद्ध्यानोपचारोपदेशः कृत इति तात्पर्यम् । ११ विनाश ।

सत्यात्मन्यात्मरूपे विरमति मरुतौ त्यक्तसंगेऽप्ययोगे
क्षीणोल्लाघे क्रियौघे समाधियति[1] यथाख्यातचारित्रमत्र।
प्रोन्मुक्ताशेषदोषे भवति कनकवत्प्रांतशुक्लोपपन्ने
मोक्षो योगिन्यवश्यं[2] यदविकलविधौ कारणे को विलंबः ॥३३॥
सर्वासां हि क्रियाणामुपरतिम[3]समां प्राहुरेतच्चरित्रं
पात्रं तन्मुख्यवृत्त्या भवति खलु यतो[4] योगिनोऽन्यः परो न।
अस्यार्हत्यभ्युपेतौ स्थितिरिह न भवेन्मुक्तहेतुप्रपंच
उत्कृष्टायाः परोऽस्याः अपि जगति यतो नास्ति रत्नत्रयातेः ३४
ऊर्ध्वं[5] व्रज्यात्मकत्वादयमनिलशिखावत्ततः प्रोर्ध्व[6]मीर्त्ते[7]
नो याने चाऽयमास्ते जगति हि गगने यत्र धर्मोऽस्तिकायः।
प्रत्यावृत्तिर्न मोक्षात्स्वभविगमनान्नैव जीवैर्विहीनः
संसारोऽनंतभावान्न च जननविधिस्तेष्वपूर्वेष्वहेतोः ॥ ३५ ॥
आलोकांतात्समीरात्समतति[8] समये नायमेकेन मुक्ता-
वस्योत्कर्षाद्विशुद्धेर्घनविवरतया किंचिदूनाकृतिः स्वैः।
एनः स्वंवृद्धिबंधव्युपरमकरणाद् ध्यानमेतच्च मुक्त-
माद्ये द्वे तत्र पूर्वश्रुतिनि जिनपतावुत्तरे द्वे च शुक्ले ॥ ३६ ॥
त्वं[12] गंता नो यियासा तव न च गतिमान्स्पंदमानप्रदेशः[13]
सर्वार्थव्याप्यवृत्तिर्न च सकलगतः कार्यरूपोऽपि नित्यः।

---

१ सम्यगधिकं गच्छति आत्मस्वभावावस्थोपेक्षालक्षणं यथाख्यातचारित्रं। २ नियमेन। ३ व्यावृत्तिं। ४ अयोगिजिनात्। ५ ऊर्ध्वगमनस्वभावभावत्वात्। ६ ऊर्ध्वाशासमाश्रितशिवसदनं। ७ याति। ८ तिष्ठति। ९ अत्राऽऽङभिविध्यर्थः। १० संगच्छेत। ११ यद्यपि रूपाद्यात्मिका न तत्राऽऽकृतिस्तथापि प्रतिबिंबं भवति सकलमलकलंकमुक्तप्रकर्षात्। १२ गमनशीलः, परं न यातुमिच्छा मुक्तात्मनां स्वभावादेव गमनरूपत्वप्रसिद्धेर्वायुवदिति न कश्चिद्विरोधः। १३ यः किल गतिमान् भवति स कथमस्पंदमानप्रदेशः, गतिमत्त्वेऽपि मुक्तस्य प्रदेशचलनायोगात् विरोधो न।

संसारातीतमूर्त्तिर्न वससि हृदये कस्य लोकत्रयेऽस्मिन्
नो केषां चित्रमेतद्भिवपदपरोऽप्यचर्यसे यन्मुनींद्रैः ॥ ३७ ॥
सौख्यं मोहक्षयेणावृतियुगगमनाद् दृष्टिबोधावपि स्तो
वीर्यं विघ्नव्ययेनोद्गमविगमहतिश्चायुरुच्छेदनेन ।
नामोच्छित्तेरमूर्त्ता स्थितिसमयकुलाऽसंगमो गोत्रनाशा-
द्वेद्योच्छेदादशेषेंद्रियजनितसुखातंकसंपर्कहानिः ॥ ३८ ॥
दृष्टिर्ज्ञानं गुणौ द्वाविह विनिगदितावात्मनि प्राप्ततत्त्वै-
स्तावेव प्राप्तवंतौ विविधविधितयोत्कर्षभावाद्बहुत्वम् ।
वर्गांतर्भावमत्र प्रकृतगुणयुगे याति कश्चिन्न वर्गः
सौक्ष्म्यश्रद्धावगाहाऽगुरुलघुगुणताऽवाध्यताद्याविरोधः ॥ ३९ ॥
मुक्तौ नापूर्वमाप्यं किमपि सुकृतिभिश्चेतितामात्मरूप-
प्राप्तिं प्राहुः प्रणीताखिलनिगमनयाः केवलज्ञानभाजः ।
सूक्ष्मास्तेषां जिनेंद्रोदितमतमहितज्ञानसाम्राज्यसंप -
त्संपन्नाः सर्वसत्त्वोत्पलविपिनमुदे सोमदेवाश्च साक्षात् ॥४०॥

इति श्रीसोमदेवाचार्यप्रणीताऽध्यात्मतरंगिणी समाप्ता ।

---

१ यो हि सकलार्थव्यापनशीलः नैव सर्वगत इत्यनुमानविरोधश्चेत्तत्रेदमनुमानं सिद्धः सर्वगतः सकलार्थव्यापिवृत्तित्वाद्यत्सकलार्थव्यापिवृत्तिश्चायं तस्मात्सर्वगत इति स न ज्ञानरूपेणैव जैनैः सकलार्थव्यापितत्वप्रतिज्ञानान्नात्मप्रदेशैस्तदुक्तं "आत्मा ज्ञानप्रमाणो ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टं । ज्ञेयं लोकाकाशं तस्माज्ज्ञानं हि सर्वगतं ॥" ज्ञानात्मकत्वेन निखिलार्थव्यापिनोऽपि न मुक्तात्मनः सर्वगतत्वमिति विरोधाभावार्थः । २कार्यमुत्पाद्यं तदेव रूपं स्वभावो यस्य स नित्योऽनश्वरः कथं ! षड्गुणहानिवृद्धित्वात्कार्यरूपः शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्य इति न विरोधः ॥ ३ उक्तौ । ४ नानाकार्यरूपतया । ५ गच्छति । ६ न प्राप्यं, अपूर्वं नयप्रमाणसंवादं परकथितमित्यर्थः । ७ जिननाथाभिहितसमयसाराद्यध्यात्मशास्त्रार्चितबोधसार्वभौमपद्मेश्वराः । सर्वजीवा एवोत्पलविपिनं पद्मसमूहस्तस्य मुदे हर्षाय ॥

नमः श्रीवीतरागाय जिनाय ।

पात्रकेसरिस्तोत्रम् ।

सटीकं

जिनेन्द्र ! गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता
भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये परं कारणम् ।
इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽहमत्यादरात्
स्फुटार्थनयपेशलां सुगत ! संविधास्ये स्तुतिम् ॥ १ ॥

टीका—श्रीवर्द्धमानमानम्य संसारार्णवतारणम् ।
बृहत्पंचनमस्कारपदं विव्रियतेऽधुना ॥

जिनानां देशतः कर्मोन्मूलकानां गणधरदेवादीनामिन्द्र स्वामिन् ! तव गुणसंस्तुतिर्गुणानां केवलज्ञानादीनां समीचीना मनोवाक्कायविशुद्धिपूर्विका स्तुतिर्मनागपि स्तोकाऽपि प्रारब्धा कृता भवति संपद्यते। किं, कारणं। कथंभूतं, परमुत्कृष्टं। किमर्थं, प्रहतये विनाशाय। केषामखिलकर्मणामिति हेतोर्व्यवसितोद्योगं कृतवती। काऽसौ, मतिः। कस्य, मम स्तोतुस्ततस्तस्मान्मतेर्व्यवसायात् अहमत्यादरात् भक्तिप्रकर्षात्संविधास्ये करिष्ये। कां, स्तुतिं। कथंभूतां, स्फुटार्थनयपेशलां स्फुटो व्यक्तः संशयादिरहितोऽर्थो येषां ते च ते नयाश्च तैः पेशलां मनोज्ञां। कथंभूत जिनेन्द्र, सुगत शोभनं गतं ज्ञानं यस्य। पृथ्वीच्छन्दोलक्षणं वृत्तरत्नाकरे यथा " जसौ जसयलावसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः " इति ॥ १ ॥

तामेव स्तुतिं विदधानो मतिरित्याद्याह;—

मतिः श्रुतमथावधिश्च सहजं प्रमाणं हि ते
ततः स्वयमबोधि मोक्षपदवीं स्वयंभूर्भवान् ।
न चैतदिह दिव्यचक्षुरधुनेक्ष्यतेऽस्मादृशां
यथा सुकृतकर्मणां सकलराज्यलक्ष्म्यादयः ॥ २ ॥

मतिरित्यादि । मतिश्च श्रुतं च मतिश्रुतमथ तथाऽनन्तरं वाऽवधिश्चैतत्प्रमाणत्रयं ते तव सहजं सहोत्पन्नं हि स्फुटं ततः प्रमाणत्रयात् स्वयं परोपदेशमन्तरेण अबोधि बुद्धवान् । कां, मोक्षपदवीं मोक्षस्य पदवी मार्गः सम्यग्दर्शनाद्यात्मकस्तां, अतः स्वयंभूर्भवान् स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गं ज्ञात्वा अनुष्ठाय चानन्तचतुष्टयरूपतया भवतीति स्वयंभूः । नन्विदं ज्ञानत्रयमिदानीमस्मदादीनामपीह भविष्यतीति ततः कथं भगवतो विशिष्टो गुणः स्तुतः स्यादित्यत्राऽऽह, न चेत्यादि । न च नैवमेतदनंतरोक्तं विशिष्टज्ञानत्रयमिष्यते दृश्यते । कथंभूतं, दिव्यचक्षुः चक्षुरिव चक्षुः पदार्थस्वरूपप्रकाशने निमित्तत्वात् दिव्यं सामान्यप्राणिनामसंभवित्वात् तच्च तच्चक्षुश्चेह क्षेत्रेऽधुनेदानीमस्मादृशां छद्मस्थानां । अत्रैवं दृष्टान्तमाह— यथेत्यादि, अयमर्थः— सुकृतकर्मणां विशिष्टपुण्यवतां चक्रवर्त्यादीनां सम्बन्धिन्यः सकलराज्यलक्ष्म्यादयो यथात्रेदानीमस्मादृशां नेष्यन्ते तथा तदपि ॥ २ ॥

भगवतः कचिद्रागद्वेषसद्भावे परमेष्ठिता न विरुद्ध्यत इत्याह;—

व्रतेषु परिरज्यसे निरुपमे च सौख्ये स्पृहा
बिभेष्यपि च संसृतेरसुभृतां वधं द्वेक्ष्यपि ।
कदाचिददयोदयो विगतचित्तकोऽप्यसा
तथाऽपि गुरुरिष्यसे त्रिभुवनैकबन्धुर्जिनः ॥ ३ ॥

व्रतेष्वित्यादि । व्रतेष्वहिंसादिषु परिसमन्ताद्रज्यसेऽनुरागं करोषि, निरुपमे चोपमातिक्रान्ते च सौख्ये मोक्षसुखे स्पृहाऽभिलाषः; बिभेष्यपि

च भयमुपगच्छस्यपि च संसृतेः संसारात् असुभृतां प्राणिनां वधं हिंसां द्वेक्ष्यपि प्रतिषेधस्यपि; कदाचित्कषायेन्द्रियकालेऽदयोदयः न दयाऽदया हिंसा तस्या उदय उत्पादो यत्र। किंविशिष्टोऽपि, विगतचित्तकोऽपि विगतं विनष्टं चित्तं भावरूपं यस्य ततो अमनस्काः केवलिन इति वचनात्; अंजसा परमार्थेन तथाऽपि रागलोभद्वेषदुष्टप्रकारेणापि गुरुः परमात्मा इष्यसे सः। किंविशिष्टस्तु जिनोऽशेषकर्मोन्मूलकः। पुनरपि किंविशिष्टस्त्रिभुवनैकबन्धुः॥ ३॥

कथंभूतस्य भवतः केवलमभूदित्याह;—

तपः परमुपाश्रितस्य भवतोऽभवत्केवलं
समस्तविषयं निरक्षमपुनश्च्युति स्वात्मजम्।
निरावरणमक्रमं व्यतिकरादपेतात्मकं
तदेव पुरुषार्थसारमभिसम्मतं योगिनाम्॥ ४॥

तप इत्यादि;—भवतो जिनस्याभवत्संजातं। किं तत्केवलं केवलज्ञानं, कथंभूतस्योपाश्रितस्य सेवितवतः। किं तत्तपः। किंभूतं, परमुत्कृष्टमेकत्ववितर्कशुक्लध्यानलक्षणं। किंविशिष्टं, केवलं समस्तविषयं समस्ता अखिला विषया यस्मिन्तत्, निरक्षमक्षेभ्य इन्द्रियेभ्यो निष्क्रान्तं निरक्षमतीन्द्रियमित्यर्थः, अपुनश्च्युति न विद्यते पुनः पश्चात् च्युतिर्विनाशो यस्य, स्वात्मजं स्वस्य जीवस्यात्मा प्रक्षीणावरणस्वभावस्तस्माज्जातमत एव निरावरणं, अक्रमं युगपत्सर्वार्थग्राहि निरक्षत्वात्, व्यतिकरादपेतात्मकं शुक्लादेः पीतादितया ग्रहणं व्यतिकरस्तस्मादपेत आत्मस्वभावो यस्य। कस्तेन पुरुषार्थ इत्याह तदेवेत्यादि— तदेव केवलज्ञानमेव पुरुषार्थानां धर्मादीनां मध्ये सारं प्रधानभूतं अभिसम्मतं भिक्षूणाम्॥ ४॥

ननु यदि समुत्पन्नकेवलज्ञानो भगवान्कथं तदेवास्ति तदेव च नास्तीत्यादि तदीयवचोविरोध इत्याशंकां निराकुर्वन्नाह;—

परस्परविरोधवद्विविधभङ्गशाखाकुलं
पृथग्जनसुदुर्गमं तव निरर्थकं शासनम्।

तथापि जिन ! सम्मतं सुविदुषां न चात्यद्भुतं
' भवन्ति हि महात्मनां दुरुदितान्यपि ख्यातये ' ॥ ५ ॥

परस्परविरोधेत्यादि;—हे जिन ! तव शासनं वचनं, कथंभूतं, निरर्थकं सदेवासदेव चेत्याद्येकान्तरूपादर्थाभिधेयान्निष्क्रान्तं परस्परविरोधवद्विविधभंगशाखाकुलं परस्परमन्योन्यं विरोधः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणः स येषां विद्यते ते च ते विविधभंगाश्चास्तित्वनास्तित्वादिविकल्पास्त एव शाखास्ताभिराकुलमाकीर्णं, पृथग्जनसुदुर्गमं पृथग्जना हेयोपादेयविवेकशून्यहृदयास्तैः सुदुर्गमं सुष्ठु दुरवबोधं तथाप्येवंविधनिरर्थकत्वप्रकारेण स्थितमपि तव शासनं सम्मतमभिप्रेतं । केषां, सुविदुषां शोभनपण्डितानां । न च नैवात्यद्भुतमाश्चर्यभूतमेतत्कुत इत्याह, भवन्ति हीत्यादिना– हि यस्माद्भवन्ति संपद्यन्ते महात्मनां सातिशयज्ञानवतां दुरुदितान्यपि परस्परविरुद्धवचांस्यपि ख्यातये प्रसिद्धये प्रमाणोपपन्नत्वात्; अत्रार्थान्तरन्यासालङ्कारः तल्लक्षणं हि यथा—उक्तिरर्थांतरन्यासः स्यात्सामान्यविशेषयोरिति ॥ ५ ॥

इदानीं सपरिग्रहत्वनिःपरिग्रहत्वयोर्भगवत्यविरोधं दर्शयन्नाह;—

सुरेन्द्रपरिकल्पितं बृहदनर्घ्यसिंहासनं
तथाऽऽतपनिवारणत्रयमथोल्लसच्चामरम् ।
वशं च भुवनत्रयं निरुपमा च निःसंगता
न संगतमिदं द्वयं त्वयि तथाऽपि संगच्छते ॥ ६ ॥

सुरेन्द्रेत्यादि—सुरेन्द्रैः परिकल्पितं रचितं । किं तत्, बृहदनर्घ्यसिंहासनं बृहन्महदनर्घ्यममूल्यं तच्च तत्सिंहासनं तथा तेनैव प्रकारेणातपनिवारणत्रयं छत्रत्रयं, अथानन्तरमुल्लसत्स्फुरच्चामरं चतुःषष्टिसंख्यं, वशं च भुवनत्रयं, " आज्ञाधीनं जगत्त्रयं " निरुपमा चोपमारहिता निसंगता निःपरिग्रहता न संगतं न युक्तं विरुद्धकमिदमनन्तरोक्तं सिंहासनादिविभूतिमत्त्वं निःसं–

गतत्वं च तथाऽपि विरुद्धप्रकारेणापि त्वयि भगवति सङ्गच्छते घटते त्वन्माहात्म्यस्य तादृशत्वात् ॥ ६ ॥

तथेदं विरुद्धमपि भगवति संगच्छत इत्याह;—

त्वमिन्द्रियविनिग्रहप्रवणनिष्ठुरं भाषसे
तपस्यपि यातयस्यनघदुष्करे संश्रितान् ।
अनन्यपरिदृष्टया षडसुकायसंरक्षया
स्वनुग्रहपरोऽप्यहो ! त्रिभुवनात्मनां नापरः ॥ ७ ॥

त्वमित्यादि; —त्वं भगवन् ! भाषसे निष्ठुरमिन्द्रियविषयप्रवृत्तिनिरोधकं । कथंभूतं, इन्द्रियविनिग्रहप्रवणं इन्द्रियाणां विशेषेण निग्रहः स्वविषये प्रवृत्तिनिरोधस्तत्र प्रवणं दक्षं न केवलं भाषसे किन्तु यातयसि क्लेशयसि यत्नवतो करोषि " यती प्रयत्ने " धातोर्ण्यन्ते रूपं " क्व, तपसि, किंविशिष्टे, दुष्करे दुश्चरे । किंविशिष्टोऽनघः। कान्, संश्रितान्। कया, षडसुकायसंरक्षया षट्कायप्राणिदयया । कथंभूतयाऽनन्यपरिदृष्टयाऽन्यैरीश्वरादिभिरप्रतीतया । कथंभूतोऽपि, स्वनुग्रहपरोऽपि । केषां, त्रिभुवनात्मनां अहो भगवन् ! यत एव त्वं तेषामनुग्रहपरोऽत एव तद्भाषसे; ईश्वरादिरपि कश्चित्तेषामनुग्रहपरो भविष्यतीत्याह— नापरो न द्वितीयस्त्वमेवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

यथेश्वरस्तुष्टः स्तुतिपरेषु सुखं संपादयति तद्विपरीतेषु च दुःखं न स भगवान्तस्य तोषरोषयोरभावेऽपि तत्संपादनसामर्थ्यसंभवादिति दर्शयन्नाह;—

ददास्यनुपमं सुखं स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि
क्षिपस्यकुपितोऽपि च ध्रुवमसूयकान्दुर्गतौ ।
न चेश ! परमेष्ठिता तव विरुद्ध्यते यद्भवान्
न कुप्यति न तुष्यति प्रकृतिमाश्रितो मध्यमाम् ॥ ८ ॥

ददासीत्यादि—ददासि। किं तत्, सुखं कथंभूतमनुपमं। केषु, स्तुतिपरेषु स्तवनतत्परेषु । कथंभूतोऽप्यतुष्यन्नप्यहमेभिः स्तुत इति चित्ते प्रसत्तिमकुर्व-

अपि, तथाऽकुपितोऽपि च क्रोधरहितोऽपि क्षिपासि प्रेरयासि ध्रुवमवश्यभावेन । क्व, दुर्गतौ । कान्नसूयकान् त्वद्गुणासहिष्णून्, तर्हि निग्रहानुग्रहौ कुर्वतस्तव परमेष्ठितांविरोधो न भविष्यतीत्यत्राह न चेत्यादि;—न चेश! परमेष्ठिता विरुध्यते । कुतो, यद्यस्माद्भवान्न कुप्यति न तुष्यति प्रकृतिं स्वभावमाश्रितः, किंविशिष्टां, मध्यमां मध्यस्थरूपामिति ॥ ८ ॥

अधुना सयोगिकेवल्यवस्थायां भगवतोऽनन्यसाधारणान् धर्मान् कथयन्नाह;—

परिक्षपितकर्मणस्तव न जातु रागादयो
न चेन्द्रियविवृत्तयो न च मनस्कृता व्यावृतिः ।
तथाऽपि सकलं जगद्युगपदंजसा वेत्सि च
प्रपश्यसि च केवलाभ्युदितदिव्यसच्चक्षुषा ॥ ९ ॥

परिक्षपितेत्यादि;—परि समन्तात् निःशेषतः क्षपितकर्मणो विनाशितघातिकर्मचतुष्टयस्य तव जिनेन्द्रस्य न जातु कदाचिदपि रागादयो नाऽपीन्द्रियविवृत्तय इन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां विशिष्टवृत्तयो यथा स्वसमर्थग्रहणव्यापारा निमेषोन्मेषादयो वा न च मनस्कृता मनःपूर्विका व्यावृतिश्चेष्टा, तथापीन्द्रियमनोव्यापाराभावप्रकारेणापि ज्ञानावरणादिप्रक्षयप्रभवज्ञानेन समस्तं जगद्युगपदेकहेलया वेत्सि च जानास्येव । न केवलं वेत्स्येव किन्तु प्रपश्यसि । केन कृत्वा, केवलेत्यादि—केवलशब्देन केवलज्ञानं केवलदर्शनं च गृह्यते तदेवाभ्युदिते अभि आभिमुख्येन सकलार्थसाक्षात्कारिलक्षणेनोदिते प्रादुर्भूते दिव्यमन्यजनासंभवि सत्समीचीनं चक्षुस्तेनेति ॥ ९ ॥

तथा कर्मप्रक्षयाद्यद्भगवतः सम्पन्नं तद्दर्शयन्नाह;—

क्षयाच्च रतिरागमोहभयकारिणां कर्मणां
कषायरिपुनिर्जयः सकलतत्त्वविद्योदयः ।

अनन्यसदृशं सुखं त्रिभुवनाधिपत्यं च ते
सुनिश्चितमिदं विभो ! सुमुनिसम्प्रदायादिभिः ॥ १० ॥

क्षयाच्चेत्यादि;—क्षयाच्च विनाशाच्च। केषां, कर्मणां। कथंभूतानां, रतिराग-मोहभयकारिणां रतिरागवैचित्यसाध्वसकर्तृणां, ततः किं ते जातं? कषाय-रिपुनिग्रहः कषायाः क्रोधादयस्त एव रिपवो जीवस्य दुःखहेतुत्वात् तेषां निर्जयः प्रक्षयस्तथा सकलतत्त्वविद्योदयः निखिलतत्त्वविद्याऽऽविर्भावस्तथा-ऽनन्यसदृशं सुखं अन्यैरिन्द्रियादिसुखैर्न सदृशं न केवलमेतावदेव किन्तु त्रिभुवनाधिपत्यं त्रिलोकप्रभुत्वं च ते तव हे विभो ! इदं कषायरिपुनि-ग्रहादिकं सुष्ठु निश्चितं निर्णीतं। कैः कृत्वा, सुमुनिसम्प्रदायादिभिः शोभना मुनयो गणधरदेवादयस्तेषां सम्प्रदाय उपदेशपरम्परा, अत्राऽऽदिशब्दादनु-मानादिपरिग्रह इति ॥ १० ॥

तस्माद्विशिष्टगुणोपेतत्वात्त्वमेव भगवन् ! परमेष्ठितायाः पदं स्थानं न केवलमेतस्मादपि तु विशिष्टवचनत्वाच्च त्वमेव तस्याः पदमित्याह;—

न हीन्द्रियधिया विरोधि न च लिंगबुद्ध्या वचो
न चाप्यनुमतेन ते सुनयसप्तधा योजितम् ।
व्यपेतपरिशङ्कनं वितथकारणादर्शना-
दतोऽपि भगवँस्त्वमेव परमेष्ठितायाः पदम् ॥ ११ ॥

न हीत्यादि;—न हि नैवेन्द्रियधिया प्रत्यक्षबुद्ध्या विरोधि बाधितं ते तव वचो न च लिंगबुद्ध्या नाऽप्यनुमानज्ञानेन विरोधीति सम्बन्धः, न चाप्यनुमतेन नैवागमैकदेशेनापि विरोधि, हे सुनय इति सम्बोधनं। यदि वा कथंभूतं वचः, सुनयसप्तधायोजितं सुनयैः नैगमसङ्ग्रहादिभिः सप्तधा सप्तप्रकारं योजितं रचितं सप्तभंगैः सहितमित्यर्थः, पुनः कथंभूतं वचः, व्यपेतपरिशङ्कनं विशेषेणापेतं विनष्टं परि समन्ताच्छङ्कनमाशङ्का। तत्किं, प्रमाणमप्रमाणं वेत्येवंरूपा यस्मिन्तत्तथोक्तं, कुत एतत्तथाविधं, वितथका-रणादर्शनात् वितथमसत्यं तस्य कारणानि हेतवो रागद्वेषमोहास्तेषामदर्श-

नादनुपलंभाद्भगवति, अतोऽप्येवंविधवचनादपि हेतोर्न केवलमनन्तरोक्तगुणोपेतत्वात् भगवन् ! इन्द्राभिपूज्यविशिष्टज्ञानेन वा संपन्नपरमेष्ठितायाः परमात्मतायाः पदं स्थानं त्वमेव नान्य इति ॥ ११ ॥

ननु वितथकारणं मे नास्तीति भवतैतत्कुतो निश्चितमिति भगवत्पर्यनुयोगे सति चाचार्यः आह;—

न लुब्ध इति गम्यसे सकलसंगसंन्यासतो
न चाऽपि तव मूढता विगतदोषवाग्यद्भवान् ।
अनेकविधरक्षणादसुभृतां न च द्वेषिता
निरायुधतयाऽपि च व्यपगतं तथा ते भयम् ॥ १२ ॥

न लुब्ध इत्यादि;—लुब्धः परिग्रहेष्वासक्त इत्येव न गम्यसे न प्रतीयसे । कुतस्तत्र कारणमाह—सकलसङ्गसंन्यासतः समस्तपरिग्रहपरित्यागात्, न चाऽपि तव मूढताऽप्यज्ञानताऽपि । कुतो, विगतदोषवाक् यद्भवान् विगता विनष्टा दोषाः पूर्वापरविरोधादयो यस्यास्तादृशी वाक् यस्यासौ विगतदोषवाक् यद्यस्मात्कारणात् भवान् भगवान्, न च नैव द्वेषिता क्रोधिताऽनेकविधरक्षणात् अनेकप्रकारेण व्रतसमितिगुप्त्यादिलक्षणेन पालनात् । केषामसुभृतां प्राणिनां, तथा भयमपि साध्वसमपि व्यपगतं नष्टं । कया, निरायुधतया निरस्तसमस्तप्रहरणतया चेति ॥ १२ ॥

अत्र विगतदोषवाक्त्वं मे कथं सिद्धमिति भगवदाशङ्कां स्तोतुः प्रज्ञातिशयपरीक्षार्थं प्रवृत्तामिव निराकुर्वन्नाह;—

यदि त्वमपि भाषसे वितथमेवमाप्तोऽपि सन्
परेषु जिन का कथा प्रकृतिलुब्धमुग्धादिषु ।
न चाऽप्यकृतकात्मिका वचनसंहतिर्दृश्यते
पुनर्जननमप्यहो ! न हि विरुध्यते युक्तिभिः ॥ १३ ॥

यदीत्यादि;—यदि त्वमपि न केवलमीदृशो जन इत्यपिशब्दार्थः, वितथमेवासत्यमेव भाषसे वदसि । कथंभूतोऽप्याप्तोऽपि सन् वीतरागत्वसर्वज्ञ-

त्वादिगुणोपेतोऽपि सन्नेवं प्रागुक्तप्रकारेण तदा परेष्वस्मादृक्षु हे जिन ! का कथा सत्याभिधानेन का वार्त्ता ? किंविशिष्टेषु, प्रकृतिलुब्धमुग्धादिषु प्रकृत्या स्वभावेन लुब्धा मुग्धाश्चादिशब्देन भीतद्विष्टादिपरिग्रहः । अत्राऽऽह मीमांसकः, आगमलक्षणाया वचनसंहतेरपौरुषेयतया केनचित्करणासंभवाद्भगवतो विगतदोषवाक्त्वं ततः कथं सिद्धमिति, तदयुक्तमित्याह-न चेत्यादिना । न च दृश्यते प्रमाणतः प्रतीयते । काऽसौ, वचनसंहतिः । कथंभूताऽकृतकात्मिका अपौरुषेयाऽपि लौकिकवचनसंहतेरिव वैदिक्या अपि तस्यास्ताल्वादिव्यापारवत्तया तया कृतकात्मत्वोपपत्तेः । एतदेवाह पुनरित्यादिना— हि यस्मान्न विरुद्ध्यते । किं पुनर्जननमपि न केवलमभिव्यक्तिः किन्तु युक्तिभिस्तन्न विरुद्ध्यत इति ॥ १३ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह;—

सजन्ममरणर्षिगोत्रचरणादिनामश्रुते-
रनेकपदसंहतिप्रतिनियामसन्दर्शनात् ।
फलार्थिपुरुषप्रवृत्तिविनिवृत्तिहेत्वात्मनां
श्रुतेश्च मनुसूत्रवत्पुरुषकर्तृकैव श्रुतिः ॥ १४ ॥

सजन्मेत्यादि । सजन्ममरणर्षयश्च तद्गोत्रं च तदाचरणं च तान्यादिर्येषां स्वर्गफलानां तेषां नाम संज्ञा तस्य श्रुतेः श्रवणात् पुरुषकर्तृकैव । का, श्रुतिर्वेदो यत्रैतेषां नाम श्रूयते तत्पुरुषकर्तृकं दृष्टं यथा मनुसूत्राणि तथा चेयं तस्मात्तथेति । तथाऽनेकपदसंहतिप्रतिनियामसंदर्शनात् अनेकानि च तानि पदानि सुबन्तातिङन्तानि च तेषां संहतिस्तस्याः प्रतिनियामः क्रमरचना तस्य सन्दर्शनात् । न केवलमेतस्माद्धेतुद्वयात्सा तत्पूर्विका किन्तु फलार्थिपुरुषप्रवृत्तिविनिवृत्तिहेत्वात्मनां श्रुतेः स्वर्गादिफलार्थिनश्च पुरुषाश्च तेषां ये प्रवृत्तिनिवृत्ती तयोश्च ये हेतुभूता आत्मानः श्रेयः प्रत्यत्राऽऽहुर्यज्ञसाधकाः स्वभावा यज्ञादीनां ब्राह्मणवेदादीनाञ्च तेषाञ्च श्रुतेर्वेदात्प्रतीतेरिति ॥ १४ ॥

नन्वात्मनि सिद्धे तस्य सर्वज्ञत्वादिगुणोपेतत्त्वमागमप्रणेतृत्वं च सिद्ध्येत्, न चासौ सिद्धस्तत्प्रमाणाभावादिति चार्वाकः,तमेव निराकुर्वन्नाह;—

स्मृतिश्च परजन्मनः स्फुटमिहेक्ष्यते कस्यचि-
　त्तथाप्तवचनान्तरात्प्रसृतलोकवादादपि ।
न चाऽप्यसत उद्भवो न च सतो निमूलात्क्षयः
　कथं हि परलोकिनामसुभृतामसत्तोद्यते ॥ १५ ॥

स्मृतिश्चेत्यादि—परजन्मनः पूर्वभवस्य स्मृतिः स्मरणं च स्फुटमसंशयं कस्यचित्प्राणिन इह लोक ईक्ष्यते अतः । कथं, स्फुटमसत्ता नास्तित्वं चार्वाकैरुद्यत उत्पाद्यते तथा प्रसृतलोकवादादपि प्रसृतः प्रसिद्धः प्रवृत्तो वा 'पूर्वमेवंविधमेतैः सुकृतं कृतं येन सुखेन तिष्ठन्ति एतैश्च दुष्कृतं कृतं येन दुःखेन क्लिश्यन्ति' इत्यादिरूपस्तथाऽपि परजन्म नेष्यतेऽतः कथं तेषामसत्तोद्यते प्रतिपाद्यते वा । केषामसुभृतां परलोकिनामतीतभवादागतानां भावि भवं गमिष्यतां तथा तेनैव प्रकारेणाऽऽप्तवचनान्तरात् 'जीवो अणाइ-णिहणो' इत्याद्यागमादपि तेषां परजन्मेष्यतेऽतः कथमसत्तोद्यते । यद-प्युच्यते चार्वाकैः कायाकारपरिणतेभ्यः पृथिव्यादिभ्यश्चैतन्यमसदुच्यते तच्च कियत्कालमवस्थाय निर्मूलं प्रतीयत इति तदयुक्तमित्याह—नचेत्यादिना—न च सर्वथाऽसत उद्भवः खरविषाणवत् न च सतो निमूलात् क्षयः पृथि-व्यादितत्त्ववत्; द्रव्यरूपतया सतः पर्यायरूपतया त्वसतश्चेतनस्योत्पाद-विनाशाभ्युपगमे जैनमतासिद्धिरिति ॥ १५ ॥

चैतन्यं चतुर्णां भूतानां कार्यं व्यङ्ग्यं चेति तद्द्वयं निराकुर्वन्नाह;—

न चाऽप्यसदुदीयते न च सदेव वा व्यज्यते
　सुराङ्गमदवत्तथा शिखिकलापवैचित्र्यवत् ।
क्वचिन्मृतकरन्धनार्थपिठरादिके नेक्ष्यते
　कथं क्षितिजलादिसङ्गगुण इष्यते चेतना ॥ १६ ॥

न चेत्यादि;—न चाऽसदप्युदीयत उत्पाद्यते चैतन्यं, किंवत्, सुराङ्ग मदवत् सुरा मद्यं तदङ्गानि कारणानि पिष्टोदकगुडधातक्यादीनि तेभ्यो यथाऽत्यन्तमसन्नेव मदो मदशक्तिरुत्पद्यते तथाभूतेभ्यश्चैतन्यमिति तर्हि सदेवाऽभिव्यज्यते तदित्यत्राह न चेत्यादिना—न च तथा सर्वथा सदेव वा व्यज्यते किंवत् शिखिकलापवैचित्र्यवत्, न हि शिखिनो मयूरस्य कलाप-वैचित्र्यं सर्वथा सदभिव्यज्यते किन्तु कथंचित्तथा चैतन्यमपि कथंचि-त्सदभिव्यज्यतां । तथा च जैनमतसिद्धिरेतेन देहगुणश्चेतन इति मतं प्रत्याख्यातं यस्मात्कश्चिन्मृतकरंधनार्थपिठरादिके नेक्ष्यते साऽतः कथं क्षितिजलादिसंघगुण इष्यते चेतनेति ॥ १६ ॥

इदानीं भगवतो वीतरागं वपुः स्तुवन्नाह;—

प्रशान्तकरणं वपुर्विगतभूषणं चाऽपि ते
समस्तजनचित्तनेत्रपरमोत्सवत्वं गतम् ।
विनाऽऽयुधपरिग्रहाज्जिन ! जितास्त्वया दुर्जयाः
कषायरिपवो परैर्न तु गृहीतशस्त्रैरपि ॥ १७ ॥

प्रशान्तकरणमिति—वपुः शरीरं । कथंभूतं, प्रशान्तकरणं प्रशान्तानि शान्तिं प्राप्तानि करणानीन्द्रियाणि यस्मिन्तत् । पुनः कथंभूतं, विगतभूषणं विगतानि प्रयातानि भूषणान्याभरणानि यस्मिन्तत् । एवं च तत्तर्हि कस्याऽपि वल्लभं न स्यादित्याशङ्कायां समस्तेत्यादिनाऽऽह-समस्तजनचित्तनेत्राणां निखिल-प्राणिमानसलोचनानां परम उत्कृष्ट उत्सवः प्रमोदो यस्मात्तस्य भावस्तत्त्वं तद्गतं प्राप्तमेवम्विधशरीरसंयुक्तेन त्वया किं कृतं ? हे जिन ! त्वया जिनेन जिताः । के, कषायरिपवः क्रोधमानमायालोभा एव रिपवः शत्रवः । कथंभूता, दुर्जयाः दुःखेन जेतव्याः । कथं जिताः, विनाऽऽयुधपरिग्रहात् शस्त्रादिधारणं विनैव । अपरैरपि जिता भविष्यन्तीत्याशङ्कायामाहापरैरित्यादिना अपरैर्ह-रिहरादिभिस्तु न जितास्ते । किंविशिष्टैरपि, चापत्रिशूलादिशस्त्राणि धारिभि-रपि इति ॥ १७ ॥

एवं कषायजयलक्षणमप्राप्तातिशयं प्रतिपाद्य केवलज्ञानलक्षणं प्राप्त्यतिशयं प्रतिपादयन्नाह;–

धियान्तरतमार्थवद्गतिसमन्वयान्वीक्षणा–
द्भवेत्खपरिमाणवत्क्वचिदिह प्रतिष्ठा परा ।
प्रहाणमपि दृश्यते क्षयवतो निमूलात्क्वचि–
त्तथाऽयमपि युज्यते ज्वलनवत्कषायक्षयः ॥ १८ ॥

धियान्तरतमेति;—इह जगति क्वचित्पुरुषविशेषे धियां बुद्धीनां प्रतिष्ठाऽवस्था परा भवेत् । कुतः, तरतमार्थवद्गतिसमन्वयान्वीक्षणात् तरतमार्थोऽतिशायनं स विद्यते यस्याः सा चासौ गतिश्च प्रवृत्तिस्तस्याः समन्वयोऽनुगमस्तस्यान्वीक्षणात् सन्दर्शनात् । किं वत्, खपरिमाणवत् । अयमर्थः—यथा आपरमाणोः परिमाणं प्रवर्द्धमानं नभसि परां प्रतिष्ठां प्रतिपद्यते तथा आस्थावरेभ्यो बुद्धिः प्रकृष्यमाणा प्रक्षीणशेषावरणपुरुषे परां प्रतिष्ठां प्रतिपद्यत इति । ननु धियां परमातिशयो ज्ञानावरणादिप्रक्षये भविष्यति । स कुतः सिद्ध इत्याह प्रहाणमित्यादिना—प्रहाणमपि दृश्यते । कस्य, क्षयवतः किट्टकालिकादेर्निर्मूलात्सर्वथा क्वचित्सुवर्णादौ यथा तथाऽयमपि युज्यते ज्वलनवत्कषायक्षयः । इदमत्र तात्पर्यं, यथा ज्वलनस्याग्नेरुदकप्रवाहादिना प्रक्षयस्तथा सम्यग्दर्शनादिना कषायाणामिति ॥ १८ ॥

ननु सर्वज्ञतालक्षणातिशयस्यात्यन्तासंभाव्यत्वात् कथं भगवति तत्कल्पना स्यादित्याशंकां निराकुर्वन्नाह;—

अशेषविदिहेक्ष्यते सदसदात्मसामान्यवि–
ज्जिन ! प्रकृतिमानुषोऽपि किमुताखिलज्ञानवान् ।
कदाचिदिह कस्यचित्क्वचिदपेतरागादिता
स्फुटं समुपलभ्यते किमुत ते व्यपेतैनसः ॥ १९ ॥

अशेषविदिति;—हे जिन ! इह जगति अशेषविदिष्यते । कोऽसौ, प्रकृतिमानुषोऽपि सामान्यजनोऽपि । कथंभूतः सन्, सदसदात्मसामान्यवित्

सदसत्स्वभावाभ्यामखिलजगन्निश्चायकः किमुत किं पुनरखिलज्ञानवान् भगवान् सर्वज्ञो नेष्यते । अधुना सर्वे पुरुषाः सर्वदा रागादिमन्त एवेत्येकान्तं निराकुर्वन्नाह, कदाचिदित्यादिना—कदाचिदिह जगति कस्यचिन्मन्दकषायस्य क्वचित्कस्मिंश्चित्प्रसक्तिहेतौ प्रदेशेऽपेतरागादिता स्फुटं यथा भवति तथा समुपलभ्यते किमुत ते जिनस्य । किं लक्षणस्य, व्यपेतैनसः ध्वस्तक्लेशस्येति ॥ १९ ॥

साम्प्रतं युक्तिशास्त्राविरोधिवक्तृत्वं भगवतः सर्वज्ञतायां चिह्नमित्याह;—

अशेषपुरुषादितत्त्वगतदेशनाकौशलं
त्वदन्यपुरुषान्तरानुचितमाप्तलाञ्छनम् ।
कणादकपिलाक्षपादमुनिशाक्यपुत्रोक्तयः
स्खलन्ति हि सुचक्षुरादिपरिनिश्चितार्थेष्वपि ॥ २० ॥

अशेषेत्यादि;—अशेषं च तत्पुरुषादितत्त्वं तस्मिन्गतं यद्देशनायाः प्रतिपादनस्य कौशलं चातुर्यं । कथम्भूतं, त्वदन्यपुरुषान्तरानुचितं त्वदन्यानि पुरुषान्तराणीश्वरादीनि तेष्वनुचितमयोग्यं । तत्किं ? आप्तलाञ्छनं । ननु कणादादेः कस्मान्न तच्चिह्नमित्याह कणादेत्यादिना-कणादकपिलाक्षपादादीनामुक्तयः शास्त्राणि स्खलन्ति प्रमाणेन प्रतिहन्यन्ते हि स्फुटं । केषु, सुचक्षुरादिपरिनिश्चितार्थेष्वपि सुष्टु चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः परि समन्तान्निश्चितार्थेष्वपि निश्चयं प्राप्तेष्वप्यर्थेषु न केवलं सूक्ष्मान्तरितदूरार्थेष्वेवेति निर्गलितोऽर्थ इति ॥ २० ॥

तदेव तदुक्तीनां स्खलनं दर्शयन्नाह;—

परैरपरिणामकः पुरुष इष्यते सर्वथा
प्रमाणविषयादितत्त्वपरिलोपनं स्यात्ततः ।
कषायविरहान्न चाऽस्य विनिबन्धनं कर्मभिः
कुतश्च परिनिर्वृतिः क्षणिकरूपतायां तथा ॥ २१ ॥

परैरित्यादि-परैर्वैशेषिकादिभिः पुरुषो जीव इष्यते । कथंभूतोऽपरिणामकः परिणामरहितः । कथं, सर्वथा नित्यं । ततः किं, प्रमाणविषयादितत्त्वपरिलोपनं परिणामित्त्वे सत्येव ह्यात्मनोऽप्रमातृत्त्वादिरूपपरित्यागेन प्रमातृत्वादिरूपसंभवात् । तथा कर्मबन्धोऽप्येवंविधस्यात्मनो न संभवतीति दर्शयन् कषायेत्यादिनाऽऽह;-स चाऽस्य सर्वथाऽपरिणामिनो जीवस्य विशेषेण निबन्धनं सम्बन्धः । कैः, कर्मभिः । कुतः, कषायविरहात् कषायरहितत्वात्, । सकषायो हि जीवः कर्मभिः सम्बध्यते । बन्धाभावात् किं, कुतश्चित्परिनिर्वृतिर्मुक्तिर्बन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य, तथा तेनैव प्रकारेण क्षणिकरूपतायां तत्परिलोपनं तदभावश्च स्यात् इति ॥ २१ ॥

इदानीं सांख्यमतमाशङ्क्य दूषयन्नाह;-

मनो विपरिणामकं यदिह संसृतिं चाश्नुते
तदेव च विमुच्यते पुरुषकल्पना स्याद् वृथा ।
न चाऽस्य मनसो विकार उपपद्यते सर्वथा
ध्रुवं तदिति हीष्यते द्वितयवादिता कोपिनी ॥ २२ ॥

मन इत्यादि--" मनश्चित्तं विपरिणामकं विविधपरिणामोपेतं यदि च संसृतिं च संसारं चतुर्गतिलक्षणमश्नुते व्याप्नोति तदेव च मनो विमुच्यते मुक्तं भवतीति सांख्यैरभ्युपगम्यते " तदा पुरुषकल्पना स्याद्भवेद् वृथा प्रयोजनाभावात् । यद्येवं परिणामित्वं मनसः सिद्ध्येत्तदा संसारमोक्षौ स्यातां न च तत्सिद्धमिति दर्शयन्नाह न चेत्यादिना—न चाऽस्य संसारमोक्षावस्थाधारतयाऽभ्युपगतस्य मनसो विकारः परिणामः सर्वथोपपद्यते घटते । कुतः, ध्रुवं नित्यं तन्मन इत्येवमिष्यते, हि यस्मात्तर्हि सर्वथा नित्यं परिणामि च मनोऽस्त्वित्यत्राऽऽह—द्वितयवादिता कोपिनी विरोधिनीति ॥ २२॥

इदानीं बौद्धानां स्वाभ्युपगमादिति विरोधं दर्शयन्नाह;-

पृथग्जनमनोनुकूलमपरैः कृतं शासनं
सुखेन सुखमाप्यते न तपसेत्यवश्येन्द्रियैः ।

प्रतिक्षणविभंगुरं सकलसंस्कृतं चेष्यते
ननु स्वमतलोकलिंगपरिनिश्चयैर्व्याहितम् ॥ २३ ॥

पृथग्जनेति—पृथग्जना रागादिमन्तस्तेषां मनोऽनुकूलं मनोज्ञमपरैः सौगतैः कृतं शासनं दर्शनं। कीदृशं तदित्याह सुखेनेत्यादिना— सुखेन कायक्लेशं विना सुखं पारलौकिकमाह्लादरूपमाप्यते प्राप्यते न तपसा। किंविशिष्टैस्तैः कृतमवश्येन्द्रियैस्तथेष्यते। किं तत्सकलसंस्कृतं। कथंभूतं, प्रतिक्षणविभंगुरं क्षणं क्षणं प्रति विभंगुरं विनश्वरं। अत्र नन्वित्यादिना स्वमतादिविरोधं दर्शयति— स्वमतश्च लोकश्च लिङ्गं च तेषां परिनिश्चयास्तैर्व्याहतं विरुद्धं तत्र स्वमतपरिनिश्चयेन विरोधस्तावत् न तपसा सुखं प्राप्यत इति वदतः शिरोमुण्डनब्रह्मचर्यादिव्रतधारणेनानर्थक्यप्रसङ्गात्, तथा " यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् " इति लोकप्रतीत्या च विरोधः, प्रत्यक्षे विभंगुरमित्यस्य च सर्वं कथञ्चिन्नित्यं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यादिलिङ्गपरिनिश्चयेन व्याघातः॥ २३॥

सन्ताने प्रत्यभिज्ञानादेः प्रवृत्तेर्न तद्व्याघात इत्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह;—

न सन्ततिरनश्वरी न हि च नश्वरी नो द्विधा
वनादिवदभाव एव यत इष्यते तत्त्वतः।
वृथैव कृषिदानशीलमुनिवन्दनादिक्रियाः
कथञ्चिदविनश्वरी यदि भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः॥ २४॥

न सन्ततिरित्यादिना— सा हि सन्ततिरक्षणिका क्षणिका उभयरूपा वा स्यादिति पक्षत्रयमप्ययुक्तमिति नेत्यादिना दर्शयति— न सन्ततिः सन्तानोऽनश्वरी नित्या न हि च नश्वरी नो द्विधा कुत इत्थं सा न सम्भवति वनादिवदभाव एव यत इष्यते तत्त्वतः। यदि हि सन्ततिर्वस्तुभूता स्यात्तदा नित्याऽनित्या चोभयरूपा वा स्यात्; न चाऽसौ वस्तुभूता सौगतैरिष्यते यतस्तत्त्वतः परमार्थतोऽभाव एव सन्ततेरिष्यते किंवत् वनादिवत्; यथैव हि वनं नगरमित्यादिव्यवहारः, न हि वृक्षविशेषान् गृहप्रासादविशेषांश्च

विहाय न किंचिद्वनं नगरं वा वास्तवं सौगतैरिष्टं । तथा क्षणिकक्षणान्विहाय न सन्ततिरपि भवतु तदभावः को दोष इत्याह वृथैवेत्यादिना— वृथैव निष्फलैव । केत्याह कृषीत्यादिना– कृषिश्च दानञ्च शीलं च मुनिवन्दना च ता आदयो यासां ताश्च ताः क्रियाश्च । अथैतद्दोषभयात्कथंचिदविनश्वरी सन्ततिरिष्यते तथा सर्वं क्षणिकमिति भवेत्प्रतिज्ञाक्षतिः॥२४॥

अधुना भुंक्ते केवली चिरञ्जीविमनुष्यत्वाद्भोगभूमिजवादित्यत्र हेतोरसिद्धतामुद्भावयन्नाह;—

अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स–
मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरैर्बालिशैः ।
क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता
न जन्ममरणात्मता हि तव विद्यते तत्त्वतः ॥ २५ ॥

अनन्येति—हे जिन ! त्वमनन्यपुरुषोत्तमः न विद्यन्तेऽन्ये पुरुषोत्तमा यस्मात् । पुनरपि कथम्भूतः, मनुजतामतीतोऽपि मनुष्यप्रकृतिरूपतामतीतोऽपि सन्नित्थंभूतोऽपि भगवन् ! मनुष्य इति शस्यस उच्यसेऽधुना नरैः । किंविशिष्टैर्बालिशैः । यदि च मनुष्यमात्रतुल्यता भगवत इष्यते तदा वीतरागताविरोध इत्याह क्वेत्यादिना—क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता न खलु मनुजानां मनुष्यमात्राणां गर्भ इव गर्भो येषां तेषां वीतरागता सर्वज्ञता च दृष्टा, यदि मनुष्यमात्रतया तुल्यता भगवतः स्यात्तदा जन्मादिप्रसंगो, न च सोऽस्तीत्याह न जन्मेत्यादिना– जन्ममरणात्मता हि यस्मात्तव न विद्यते तत्त्वतः, जन्म हि कर्मशेषाद्भवति तस्य च जन्मन्येव तत्क्षयात्कथं तत्स्यात् तदभावान्मरणाभाव इति ॥ २५ ॥

ननु भगवतो जन्माभावे कथं स्वमातृगर्भादुत्पाद इत्याशङ्क्याह;—

स्वमातुरिह यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो
मलैरनुपसंप्लुतो वरसरोजपत्रेऽम्बुवत् ।

हिताहितविवेकशून्यहृदयो न गर्भेऽप्यभूः
कथं तव मनुष्यमात्रसदृशत्वमाशङ्क्यते ॥ २६ ॥

स्वमातुरित्यादि—इह क्षेत्रे स्वमातुर्गर्भात्प्रभवो यद्यपीष्यते भगवतस्तथापि मलैरनुपसंप्लुतो मलैर्मातुरुदरगतैः कश्मलैरनुपसंप्लुतोऽसंस्पृष्टः। किमिव, वरसरोजपत्रेऽम्बुवत्। तथा हिताहितविवेकशून्यहृदयो न गर्भेऽप्यभूः, एवम्विधमन्यजनानां तथाऽनिश्चयात्रित्यपिशब्दार्थः। अतः कथं मनुष्यमात्रसदृशत्वमाशङ्क्यते भगवत इति ॥ २६ ॥

एवं जन्माभावमभिधाय मरणाभावमभिधातुमाह;—

न मृत्युरपि विद्यते प्रकृतिमानुषस्येव ते
मृतस्य परिनिर्वृतिर्न मरणं पुनर्जन्मवत्।
जरा च न हि यद्वपुर्विमलकेवलोत्पत्तितः
प्रभृत्यरुजमेकरूपमवतिष्ठते प्राङ् मृतेः ॥ २७ ॥

न मृत्युरित्यादि— केवलं जन्मैव न विद्यते किन्तु मृत्युरपि न विद्यते। कस्येव, प्रकृतिमानुषस्येव। नन्वयोग्यवस्थानन्तरं भगवतो मरणमस्तीति चेत्, मृतस्यायोग्यवस्थाश्च्युतस्य निर्वृतिर्भवति यत्पुनर्जन्मवन्मरणं पृथग्जने दृष्टं तद्भगवति नेति निषिध्यते न केवलं तथाविधं मरणं न विद्यते, अपि तु जरा च न हि विद्यते। कुतः यद्यस्माद्वपु विमलकेवलोत्पत्तितः प्रभृति अरुजं नीरोगमेकरूपं तरुणवृद्धरूपविसदृशपरिणामरहितमवतिष्ठते। आ कुतः, प्राङ् मृतेरिति ॥ २७ ॥

परेषामाप्ताभासानां भगवतश्च सुखं प्रति महदन्तरं दर्शयन्नाह;—

परैः कृपणदेवकैः स्वयमसत्सुखैः प्रार्थ्यते
सुखं युवतिसेवनादिपरसन्निधिप्रत्ययम्।
त्वया तु परमात्मना न परतो यतस्ते सुखं
व्यपेतपरिणामकं निरुपमं ध्रुवं स्वात्मजं ॥ २८ ॥

परैरित्यादि—परैरीश्वरादिभिः । किंविशिष्टैः, कृपणदेवकैः कृपणा दीना हीनस्थानेष्वपि स्त्र्यादिषु सुखताऽभिलाषेण प्रवृत्तिमत्त्वात् ते च ते देवकाश्च कुत्सितदेवास्तैः । पुनरपि किंविशिष्टैरसत्सुखैरसदविद्यमानं निरतिशयं सुखं येषां तैः । किं क्रियते, स्वयं प्रार्थ्यते । किं तत्सुखं । कथंभूतं, युवतिसेवनादिपरसन्निधिप्रत्ययं युवतिसेवनादि च तत्परं चानात्मस्वरूपं तस्य सन्निधिर्नैकट्यं प्रत्ययः कारणं यस्य तत्तथोक्तं अतस्तेषामाप्ताभासता । त्वया तु परमात्मना न परतो युवतिसेवनादेः प्रार्थ्यते । कुतो ? यतो यस्मात्ते सुखं व्यपेतपरिमाणकं विशेषणापेतं परिमाणमियत्तापरिमाणो वा हीनाधिकव्यावाधादिपरिणतिर्यस्य, निरुपममुपमातीतं ध्रुवमनपायं स्वात्मजमात्माधीनमिति ॥ २८ ॥

अधुनेश्वरस्याप्ताभासस्योन्मत्तस्येव चेष्टितं दर्शयन्नाह;—

पिशाचपरिवारितः पितृवने नरीनृत्यते
क्षरद्रुधिरभीषणद्विरदकृत्तिहेलापटः ।
हरो हसति चायतं कहकहाट्टहासोल्बणं
कथं परमदेवतेति परिपूज्यते पण्डितैः ॥ २९ ॥

पिशाचेत्यादि—हर ईश्वरो नरीनृत्यते भृशं नृत्यति । कथंभूतः, पिशाचपरिवारितः । पुनरपि कथंभूत इत्याह क्षरदित्यादिना—क्षरच्च तद्रुधिरं च तेन भीषणा भयानका सा चासौ द्विरदस्य कृत्तिश्चर्म सैव हेलापटः क्रीडापटो यस्य । क्व, पितृवने न केवलं तत्रासौ नरीनृत्यते किन्तु हसति च । कथमायतं दीर्घं । पुनरपि कथंभूतं, कहकहाट्टहासोल्बणं कहकहं लक्षणश्चासावट्टहासश्च तेनोल्बणमुत्कटमेवंविधो हरः कथं परमदेवता इत्येवं परिपूज्यते । कैः, पण्डितैरिति ॥ २९ ॥

अन्यदप्यस्य दुष्टचेष्टितं दर्शयन्नाह;—

मुखेन किल दक्षिणेन पृथुनाऽखिलप्राणिनां
समत्ति शवपूतिमज्जरुधिरांत्रमांसानि च ।

गणैः स्वसदृशैर्भृशं रतिमुपैति रात्रिंदिवं
पिबत्यपि च यः सुरां स कथमाप्तताभाजनम् ॥ ३० ॥

मुखेनेति—समत्ति भक्षयति। कानि शवपूतिमज्जरुधिरांत्रमांसानि शवश्च मृतकं पूतिश्च पूयः मज्जा च रुधिरं चांत्राणि च मांसानि च तानि। केषा-मखिलप्राणिनां। केन कृत्वा, मुखेन किलेत्यरुचौ। कथंभूतेन, पृथुना दक्षिणेन पुनरपि कथंभूतेन, पृथुना महता। अन्यच्च किं करोति, रतिमुपैति भृशम-त्यर्थं। कैः सह, गणैः भृंगिरिटिप्रभृतिभिः। किं विशिष्टैः, स्वसदृशैः शवादिलक्षणादिपरतया रात्रिं दिवं तथा पिबत्यपि च यः सुरां सुरामपि यः पिबति सः कथमाप्तताभाजनमिति ॥ ३० ॥

पराभ्युपगतानीश्वरगुणान्निराकुर्वन्नाह;—

अनादिनिधनात्मकं सकलतत्त्वसंबोधनं
समस्तजगदाधिपत्यमथ तस्य संतृप्तता।
तथा विगतदोषता च किल विद्यते यन्मृषा
सुयुक्तिविरहान्न चाऽस्ति परिशुद्धतत्त्वागमः ॥ ३१ ॥

अनादीत्यादि—सकलं च तत्तत्त्वं च तस्य संबोधनं सर्वज्ञत्वं। कथं-भूतमनादिनिधनात्मकमादिश्च प्रथमोत्पत्तिर्निधनं च विनाशो न विद्येते ते यस्य सः तथाविधात्मस्वभावो यस्य, अथ तथा समस्तजगदाधिपत्यं समस्तं च तज्जगच्च तस्याधिपत्यं प्रभुत्वं तथेश्वरस्य संतृप्तता सम्यक् तृप्तिस्तथा विगतदोषता च विद्यते; किलेत्यरुचौ, तदेतन्मृषा मिथ्या। कुतः, सुयुक्ति-विरहात् शोभनाया युक्तेर्हेतोरभावात्। मा भूद्युक्तिरागमस्तु भविष्यती-त्यत्राऽऽह न चेत्यादिना— न च नैवात्रार्थेऽस्ति परिशुद्धमबाधितं तत्त्वं स्वरूपं यस्य स चासावागम इति ॥ ३१ ॥

अधुना हरिहरब्रह्मणामाप्ताभासतां दर्शयन्नाह;—

कमण्डलुमृगाजिनाक्षवलयादिभिर्ब्रह्मणः
शुचित्वविरहादिदोषकलुषत्वमभ्यूह्यते।

भयं विघृणता च विष्णुहरयोः सशास्त्रत्वतः
स्वतो न रमणीयता च परिमूढता भूषणात् ॥ ३२ ॥

कमण्डल्वित्यादि—कमंडलुः कुंडिका मृगाजिनं मृगचर्माक्षवलयमक्षसूत्रं तान्यादिर्येषां चतुर्वदनादीनां तैर्ब्रह्मणोऽभ्यूह्यतेऽनुमीयते । किं तदित्याह शुचि चेत्यादिना— शुचित्वस्य विरहोऽभाव आदिर्यस्य स चासौ दोषश्च तेन कलुषत्वं मलिनत्वं तथा न स्वतः शुचिर्ब्रह्मा कमंडलुधारणात्, न कृतार्थो मृगाजिनधारणात्, न सर्वज्ञोऽक्षसूत्रग्रहणात् तदन्यतपस्विवत्, तथा अवीतरागः कामोद्रेकवशाच्चतुर्वदनकारणात् तथा विष्णुहरयोर्भयं विघृणता च निर्दयता च दोषः । कुतः, भूषणाच्छरीरालंकरणात् इति॥ ३२ ॥

अन्यदपि मोहविजृम्भितं ब्रह्मणो दर्शयन्नाह;—

स्वयं सृजति चेत्प्रजाः किमिति दैत्यविध्वंसनं
सुदुष्टजननिग्रहार्थमिति चेदसृष्टिर्वरम् ।
कृतात्मकरणीयकस्य जगतां कृतिर्निष्फला
स्वभाव इति चेन्मृषा स हि सुदुष्ट एवाऽऽप्यते ॥ ३३ ॥

स्वयमित्यादि—स्वयमात्मना सृजत्युत्पादयति चेद्यदि । काः, प्रजाः । तर्हि किमिति केन कारणेन दैत्यविध्वंसनं दैत्यानामसुराणां विध्वंसनं मारणं सुदुष्टजननिग्रहार्थमिति चेत्, एवं तर्हि तेषां वरमकृतकृत्यस्तस्य जगतां लोकानां कृतिः करणं निष्फला निष्प्रयोजना, अथ न प्रयोजनमुद्दिश्यासौ जगतां स्रष्टा किं नु तादृशस्तस्य स्वभाव इति चेन्मृषा मिथ्यैव तत् । कुत इत्याह स हीत्यादिना— हि यस्मात् स स्रष्टा सुष्ठु दुष्टो रागादिदोषाक्रान्त एवाप्यते गम्यते तदभावे जगतां सर्जनपालनविध्वंसनानुपपत्तेरिति ॥ ३३ ॥

पुनरपि दोषान्तरसद्भावादेषामाप्तता नास्तीत्याह;—

प्रसन्नकुपितात्मनां नियमतो भवेद्दुःखिता
तथैव परिमोहिता भयमुपद्रुतिश्चामयैः ।

तृषाऽपि च बुभुक्षया च न च संसृतिश्छिद्यते
जिनेन्द्र ! भवतोऽपरेषु कथमाप्तता युज्यते ॥ ३४ ॥

प्रसन्नेत्यादि—प्रसन्नस्तुष्टः कुपितः क्रुद्धस्तदात्मनां तद्रूपाणां नियमतोऽवश्यंभावेन भवेद्दुःखिता दुःखस्वभावता कोपप्रसादवशीकृतानां सुखित्वानुपपत्तेः, तथैव परिमोहिता भयं च तत्परवशीकृतानां निर्मोहत्वस्य निर्भयत्वस्य चास्मदादिवदसंभवात्, उपद्रुतिश्चोपद्रवश्चामयैर्व्याधिभिर्न केवलमेतैरेवोपद्रुतिरपि तु तृषाऽपि च पिपासया च बुभुक्षया च। एवंविधैरपि तैः संसारोच्छित्तिः करिष्यत इत्याह न चेत्यादिना—न चैवंविधदोषदुष्टैस्तैः संसृतिः स्वस्यान्येषां वा छिद्यतेऽतो हे जिनेन्द्र ! भवतोऽपरेषु ब्रह्मादिषु कथमाप्तताऽवंचकता युज्यते घटत इति ॥ ३४ ॥

अत आप्ताभासेषु सेवा नरकपातहेतुरेवेत्यावेदयन्नाह;—

कथं स्वयमुपद्रुताः परसुखोदये कारणं
स्वयं रिपुभयार्दिताश्च शरणं कथं बिभ्यताम् ।
गतानुगतिकैरहो त्वदपरत्र भक्तैर्जनै-
रनायतनसेवनं निरयहेतुरंगीकृतम् ॥ ३५ ॥

कथमित्यादि—कथं न कथमपि स्वयमुपद्रुता ये सुखादिबाधितास्तेषां परेषां सेवकानां सुखोदये कारणं, अत्राऽर्थेऽर्थान्तरन्यासमाह स्वयमित्यादिना—स्वयं रिपुभयेनार्दिताः कथं शरणं त्रातारः । केषां, बिभ्यतां प्रचंडशत्रुभ्यो भयमुपागतानां अतो गतानुगतिकैरपरीक्षकैर्जनैस्त्वद्भवतोऽपरत्रेश्वरादौ भक्तैः अहो आश्चर्यमङ्गीकृतं। किं तत्, अनायतनसेवनं मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि तद्वन्तश्च पुरुषा इति षड्विधमनायतनं तस्य सेवनमाराधनं । किंविशिष्टं, निरयहेतुरिति ॥ ३५ ॥

इदानीं हिंसादिप्रवृत्तानां तेषां पापबन्ध एवानुषज्यत इति दर्शयन्नाह;—

सदा हननघातनाद्यनुमतिप्रवृत्तात्मनां
प्रदुष्टचरितोदितेषु परिहृष्यतां देहिनाम् ।

अवश्यमनुषज्यते दुरितबन्धनं तत्त्वतः
शुभेऽपि परिनिश्चितस्त्रिविधबंधहेतुर्भवेत् ॥ ३६ ॥

सदेति– सदा सर्वकालं हननं हिंसा, घातनं हिंसायां प्रेरकत्वं, आदिशब्दात्तत्साधनायुधादिसमर्पणनिष्पादनादिग्रहणं, अनुमतिरेवं क्रियतामित्यभ्युपगमः, तासु प्रवृत्तात्मनां देहिनामवश्यमनुषज्यते प्रसज्यते । किं, दुरितबन्धनं पापबन्धः तत्त्वतः परमार्थतः । पुनरपि कथम्भूतानामित्याह प्रदुष्टेत्यादिना–प्रकर्षेण दुष्टं च तच्चरित्रं च हिंसाद्याचरणं तस्योदितेषु प्रतिपादनेषु प्रहृष्यतां तुष्यतां न केवलमशुभे बंधे त्रिविधो हेतुः किन्तु शुभेऽपि परिनिश्चितः । कोऽसौ, त्रिविधबंधहेतुः त्रिविधश्चासौ कृतकारितानुमतप्रकारो बन्धहेतुश्च भवेदिति ॥ ३६ ॥

नन्वेवं जिनेन्द्रस्यापि दानक्रियां हिंसालेशहेतुभूतामुपदिशतः कथं पापबन्धो न स्यादिति शङ्कां निराकुर्वन्नाह;—

विमोक्षसुखचैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिकाः
क्रिया बहुविधासुभृन्मरणपीडना हेतवः ।
त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिताः किं नु ता–
स्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः ॥ ३७ ॥

विमोक्षेत्यादि–विमोक्षे सुखं विमोक्षसुखं तस्मै चैत्यदानपरिपूजनादीनि तान्यात्मा यासां तास्तदात्मिकाः क्रियाः । कथंभूताः, बहुविधानां स्थावरत्रसरूपाणामसुभृतां मरणं च पीडनं च तयोर्हेतवस्ता इत्थंभूताः क्रियास्त्वया न हि देशिताः प्रतिपादिताः । कथंभूतेन, ज्वलितकेवलेन ज्वलितं दीप्तं सकलार्थप्रकाशकं केवलं केवलज्ञानं यस्य तेन किन्तु स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः । किंविशिष्टैः, त्वयि प्रसृतभक्तिभिः प्रसृता वृत्ता भक्तिर्येषां तैः, तत्रेह क्षेत्रे दानक्रियाया आद्यः स्वयमनुष्ठाता श्रेयान् चैत्यचैत्यालयादिक्रियायास्तु भरतचक्रवर्त्तीति, अथवा तीर्थकरेभ्योऽन्येषामेव जिनेन्द्राणां

गणधराणां तदुपदेशिताभावो न तु तीर्थंकराणां तेषां तीर्थंकरत्वनामपुण्यातिशयवशात्तत्संभवात् गणधरदेवैर्व्याख्याता विशेषादुपदिष्टा इति ॥ ३७ ॥

कथञ्चिन्नित्यागमाद्वा भव्यैस्तत्क्रिया ज्ञाता इति दर्शयन्नाह,--

त्वया त्वदुपदेशकारिपुरुषेण वा केनचित्
कथंचिदुपदिश्यते स्म जिन ! चैत्यदानक्रिया ।
अनाशकविधिश्च केशपरिलुंचनं चाऽथवा
श्रुतादनिधनात्मकादधिगतं प्रमाणान्तरात् ॥ ३८ ॥

त्वयेति--त्वया तीर्थंकृता त्वदुपदेशकारिपुरुषेण वा तवोपदेशं करोति प्रवर्त्तयतीत्येवंशीलस्त्वदुपदेशकारी स चासौ पुरुषश्च तेन केनचिद्गणधरदेवेन कथंचित्पर्यायरूपेणोपदिश्यते स्म । का, जिनचैत्यदानक्रिया न केवलं सा किं त्वनाशकविधिश्च न विद्यत आशो भोजनं यत्र सोऽनाशक उपवासः संन्यासो वा तस्य विधिरनुष्ठानं तथा केशपरिलुंचनं चाऽथवा श्रुतादागमात् एतत्सर्वं भव्यैरधिगतं । कथंभूतादनिधनात्मकात् द्रव्यरूपतया विनाशशून्यत्वात् । पुनरपि कथंभूतात्, प्रमाणान्तरात् प्रत्यक्षप्रमाणादन्यस्मादिति ॥ ३८ ॥

नन्वेवं भगवतस्तदुपदिशतः प्राणिपीडाहेतुत्वसंभवात् कथं नापुण्यबन्धः स्यादित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह;--

न चासुपरिपीडनं नियमतोऽशुभायेष्यते
त्वया न च शुभाय वा न हि च सर्वथा सत्यवाक् ।
न चाऽपि दमदानयोः कुशलहेतुतैकान्ततो
विचित्रनयभंगजालगहनं त्वदीयं मतम् ॥ ३९ ॥

न चेत्यादि--न च नैवासूनां परिपीडनं नियमतोवश्यंभावेनाशुभाय त्वयेष्यते न च शुभाय वा न हि च हि स्फुटं न च सत्यवाक् शुभाशुभाय वा सर्वथेष्यते प्रमादकृतानां तेषामशुभहेतुत्वात् । तदुक्तं,—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥ १ ॥

तर्हि दमदानयोः पुण्यहेतुतैवास्त्वित्याह न चेत्यादिना—न च दमदानयोः कुशलहेतुता एकान्ततोऽवश्यंभावेन । अतो विचित्रनयजालगहनं विचित्राश्च ते नयाश्च तेषां भंगा विकल्पास्तेषां जालं संघातस्तेन गहनमगाधं त्वदीयं तावकं मतं शासनमिति ॥ ३९ ॥

ननु परैरपि भगवताऽपि सुखजीविकार्थं शासनं प्रणीतमित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह;—

त्वयाऽपि सुखजीवनार्थमिह शासनं चेत्कृतं
कथं सकलसंग्रहत्यजनशासिता युज्यते ।
तथा निरशनार्द्धभुक्तिरसवर्जनाद्युक्तिभि–
र्जितेन्द्रियतया त्वमेव जिन ! इत्यभिख्यां गतः ॥ ४० ॥

त्वयाऽपीति—त्वयाऽपि न केवलं ब्रह्मादिभिः सुखजीवनार्थमिह जगति शासनं मतं कृतं चेद्यदि तदा कथं युज्यते घटते । काऽसौ, सकलसंग्रहत्यजनशासिता सकलश्चासौ संग्रहश्च परिग्रहस्तस्य त्यजनं त्यागस्तस्य शासिता प्रतिपादकत्वं तथा त्वमेव गतः प्राप्तः । कामभिख्यां संज्ञां । किंविशिष्टां ' जिन ' इत्येवंविधां ' यो हि कर्मारातीञ्जयति स जिन ' इत्युच्यते । कया तां त्वं गत इति प्रश्ने जितेन्द्रियतयेति । काभिः कृत्वा जितेन्द्रियता भगवतोऽवगतेत्याह;—निरशनेत्यादिना—निरशनमुपवासः अर्द्धभुक्तिरवमौदर्यं रसवर्जनं रसपरित्यागस्तान्यादिर्येषां दुर्धरकायक्लेशादीनां तेषामुक्तिभिः प्रतिपादनैः, न हि कश्चित्सुखेन जीविकामिच्छन् जितेन्द्रियः, सकलं परिग्रहं त्यजति दुर्धरोपवासादितपोऽनुतिष्ठति परस्मै प्रतिपादयति चेति प्रतीतमिति ॥ ४० ॥

ननु भवन्मतानुसारिभिः कैश्चिद्वस्त्रादिपरिग्रहस्वीकारात्कथं सकलसंग्रहत्यजनशासिता भवतो न विरुद्धेत्यत्राह;—

जिनेश्वर ! न ते मतं पटकवस्त्रपात्रग्रहो
विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैः कल्पितः ।

अथायमपि सत्पथस्तव भवेद्वृथा नग्नता

न हस्तसुलभे फले सति तरुः समारुह्यते ॥ ४१ ॥

जिनेश्वर इति—हे जिनेश्वर ! जिनेन्द्र ! न ते मतमभिप्रेतं । किं तत्, पटकवस्त्रपात्रग्रहः कुत्सितः पटः पटक ऊर्णामयः वस्त्रं कर्पटः पात्रं भिक्षाभाजनं तेषां ग्रहो ग्रहणं मतं हिंसाहेतुत्वात्र । पटादेः प्रक्षालने हि अनेकाप्कायिकादिजन्तुवधः स्यात्, अप्रक्षालने चानेकयूकालिक्षादिसमुत्थामात्तवधः स्यात् । कथं तद्गृहीतमित्याह विमृश्येत्यादिना— विमृश्य पर्यालोच्य सुखकारणं स्वयं श्वेतपटैः कल्पितं न तु भगवतोपदिष्टं । कथंभूतैस्तैरशक्तैः शीतोष्णादिपरीषहसहनेऽसमर्थैः, अथ निर्ग्रन्थसंयमोऽपि मुक्तिहेतुरित्यत्राहाथेत्यादिना—अथ पुनरयमपि सग्रन्थसंयमोऽपि सत्पथः सन्मार्गो मुक्तिहेतुस्तर्हि तव भवेद्वृथा । काऽसौ, नग्नता सकलसंगपरित्यागः । कुतः, यतो न हस्तसुलभे भूमिस्थैरपि हस्तेन सुलभे सुखेन प्राप्ये फले सति तरुर्वृक्षः प्रेक्षापूर्वकारिभिः समारुह्यते ॥ ४१ ॥

सग्रन्थसंयमेऽपरमपि दूषणमुपदर्शयन्नाह;—

परिग्रहवतां सतां भयमवश्यमापद्यते

प्रकोपपरिहिंसने च परुषानृतव्याहृती ।

ममत्वमथ चोरतो स्वमनसश्च विभ्रान्तता

कुतो हि कलुषात्मनां परमशुक्लसद्ध्यानता ॥ ४२ ॥

परिग्रहवतामिति— परिग्रहवतां सतां विद्यमानानां चौरादिभ्यो भयमवश्यमापद्यते तथा तदपहर्तृविषये प्रकोपपरिहिंसने चापद्येते; तथा परुषानृतव्याहृती परुषं निष्ठुरं अनृतमसत्यं ते च ते व्याहृती च वचने आपद्येते तथा ममत्वं मूर्च्छा, अथ तथा चोरतो विशिष्टपदार्थस्यापहरणाभिप्रायः स्वमनसश्च विभ्रान्तता स्वस्य मनश्चित्तं तस्य विभ्रान्तता उपार्जनरक्षादिना संक्षोभ एवं कलुषात्मनां कुतः हि स्फुटं परमशुक्लसद्ध्यानता उत्कृष्टश्रेष्ठशुक्लध्यानत्वमिति ॥ ४२ ॥

अत्रैव दूषणान्तरमुपदर्शयन्नाह;—

स्वभाजनगतेषु पेयपरिभोज्यवस्तुष्वमी
यदा प्रतिनिरीक्षितास्तनुभृतः सुसूक्ष्मात्मिकाः ।
तदा क्वचिदपोज्झने मरणमेव तेषां भवे-
दथाऽप्यभिनिरोधनं बहुतरात्मसंमूर्च्छनम् ॥ ४३ ॥

स्वभाजनेति— स्वस्य भाजनानि तेषु गतेषु स्थितेषु । केषु, पेयपरिभोज्यवस्तुषु पेयानि पानकानि परिभोज्यानि मोदकादीनि पेयपरिभोज्यानि च तानि वस्तूनि च तेष्वमी तनुभृतो यदा प्रतिनिरीक्षिता दृष्टाः । कथंभूताः, सुसूक्ष्मात्मिकाः क्षुद्रजन्तवस्तदा ते किं ततो बहिः क्षिप्यन्ते न वा ? यदि क्षिप्यन्ते तदा मरणमेव तेषां भवेत् क्वचिदपोज्झनेऽपनयनेऽथाप्यभिनिरोधनं अथाऽपि पुनरपि अभिनिरोधनं पात्रवस्त्रादिभ्यस्तेषामपनयनं तर्हि बहुतरात्मसंमूर्च्छनं बहुतराणामात्मनां क्षुद्रजन्तूनां संमूर्च्छनं जन्म भवेदिति ॥ ४३ ॥

नन्वेवं निग्रन्थसंयतानुष्ठायिनामपर्यापथिकादौ बहुतरहिंसासंभवात् प्रचुरतः कर्मोपार्जनान्मुक्तिर्न प्राप्नोतीत्याशंकां निराकुर्वन्नाह;—

दिगम्बरतया स्थिताः स्वभुजभोजिनो ये सदा
प्रमादरहिताशयाः प्रचुरजीवहत्यामपि ।
न बन्धफलभागिनस्त इति गम्यते येन ते
प्रवृत्तमनुबिभ्रति स्वबलयोग्यमद्याप्यमी ॥ ४४ ॥

दिगम्बरतयेति— दिश एवांबराणि तनुपटकवस्त्रादीनि परिधानप्रावरणवस्त्राणि येषां तेषां भावस्तत्ता तया स्थिताः प्रतिपन्ननिर्ग्रंथस्वरूपा इत्यर्थः । कथंभूताः, स्वभुजभोजिनो ये सदा स्वभुजयोरेव न पात्रादौ भोक्तुं शीलं येषान्ते पाणिपात्रपुटाहारास्ते सर्वदेत्यर्थः । पुनरपि कथंभूताः, प्रमादरहिताशयाः सदेत्येतदत्राप्यभिसंबध्यते सदा प्रमादेन पंचदशप्रकारेण रहित आशयो मनो येषान्ते तथाभूताः सन्तः न बंधफलभागिनः, ईर्या-

पथजं कर्म यद्यपि तेषां समायातं तथाऽपि न बंधस्थित्यनुभागरूपमुपैति शुष्ककुड्यपतितसिकतावत् । अतः प्रकृतिप्रदेशरूपतया बन्द्धमपि कर्म न फलप्रदं ततो न बन्धफलभागिनस्त इत्येवं गम्यते निश्चीयते । केन कारणेन ते न तद्भागिन इत्याह येनेत्यादिना— येन कारणेन ते प्रमादरहिताशयाः दिगम्बराः प्रवृत्तमनु बिभ्रति प्रकृष्टं वृत्तं चारित्रं चिरन्तनमहर्षयो यथा धृतवन्तः अनु तथैव बिभ्रति धारयन्ति अद्याप्यधुनाऽपि कलिकालेऽपि । कथंभूतं प्रवृत्तं, स्वबलयोग्यं स्वस्य बलं तस्य योग्यं निजवीर्यानुरूपं वीर्यस्याविनिग्रहेणेत्यर्थ इति ॥ ४४ ॥

प्रमादरहिताशयानामप्येषां कथंचित्प्राणिपीडनमात्राभ्युपगमे दोषं दर्शयन्नाह;—

यथागमविहारिणामशनपानभक्ष्यादिषु
प्रयत्नपरचेतसामविकलेन्द्रियालोकिनाम् ।
कथंचिदसुपीडनाद्यदि भवेदपुण्योदय-
स्तपोऽपि वध एव ते स्वपरजीवसंतापनात् ॥ ४५ ॥

यथागमेति — यथागमेनागमप्रतिपादितविध्यनतिक्रमेण विहर्तुं तीर्थवन्दनाद्यर्थं पर्यटितुं शीलं येषां तेषां अशनमन्नं पानं पेयं भक्ष्यं लड्डुकानि तान्यादिर्येषां शयनाशनादीनां तेषु प्रयत्नपरचेतसां । पुनरपि कथंभूतानां, अविकलेन्द्रियालोकिनां अविकलं सूक्ष्मार्थदर्शने समर्थं इन्द्रियं चक्षुस्तेनाऽऽलोकितुं द्रष्टुं शीलं येषां तेषां, कथंचिदसुपीडनात् यदि भवेदपुण्योदयः पापप्रादुर्भावः तपोऽपि द्वादशप्रकारं ते तव वध एव हिंसैव प्राप्नोति । कुतः, स्वपरजीवसंतापनात् षष्ठ्याद्युपवासविधाने हि साधारणशरीररूपत्वात् तदनुष्ठायिनामिव तदाश्रितजीवानामपि पीडा भवतीति । यदि वा परशब्देन शिष्या गृह्यन्ते तेषां सन्मार्गानुष्ठापनेन पीडामुपजनयन्तोऽप्याचार्याः पापकर्मभाजो न भवन्त्यातुरस्य वमनविरेचनाद्यनुष्ठापनेन सद्वैद्यवत् हितं चिकीर्षूणां तेषां संसारव्याधिविनाशहेतुतया विशुद्धाशयत्वादिति ॥४५॥

ननु पृथिव्यादौ नियमेन जन्तुसम्मूर्च्छनभवात्कथमशनपानादौ प्रवर्त्तमानानां यथागमविहारिणामप्येषामहिंसकत्वं स्यादित्याशंकां निराकुर्वन्नाह,—

मरुज्ज्वलनभूपयःसु नियमात्क्वचिद्युज्यते
परस्परविरोधितेषु विगतासुता सर्वदा ।
प्रमादजनितागसां क्वचिदपोहनं स्वागमा-
त्कथं स्थितिभुजां सतां गगनवाससां दोषिता ॥ ४६ ॥

मरुदिति— मरुद्वायुर्ज्वलनोऽग्निर्भूः पृथ्वी पयः पानीयं तेषु क्वचित्केषुचित् नियमादवश्यंभावात् युज्यते घटते । काऽसौ विगतासुता, रहितप्राणित्वं । किंविशिष्टेषु, परस्परविरोधितेषु परस्परमन्योन्यं विरोधितेषु किन्तु कदाचिदेव तथाविधेषु तेषु विगतासुता प्रयुज्यत इत्याह सदेत्यादिना— सदा सर्वस्मिन्नपि काले विध्वस्तेषु तेषु गतासुतैव युज्यते; ननु यदा तेषां कदाचित्प्रमादतः प्राणिपीडादिप्रभवं पापं भवति तदा कुतोऽपि विशुद्धिः स्यादित्याह प्रमादेत्यादिना— प्रमादेन जनितमागः प्राणिपीडादिप्रभवं पापं येषां तेषामपि तदपोहनं तस्य पापस्य शोधनं । कुतः, स्वागमात् स्वकीयः शोभनो वाऽऽगमः स्वागमस्तस्मात् तेन हि दोषानुरूपप्रायश्चित्तनिरूपणद्वारेणात्मनो विशुद्धिर्विधीयते ततः कथं स्थितिभुजां अनिमंत्रितानाकारिभुजां अनिमंत्रितानाकारिता यथाकालं स्थितौ स्थापने उद्गमादिदोषरहितमाहारं उद्धा· भुंजत इत्येवंशीलास्तेषां सतां विद्यमानानां सम्यग्दर्शनाद्युपेततया प्रशस्तानां वा गगनवाससां निर्ग्रन्थानां दोषिता दोषाः हिंसादिलक्षणाः सन्ति येषान्ते दोषिणस्तेषां भावस्तत्तेति ॥ ४६ ॥

मोक्षार्थो हि प्रेक्षावतां प्रयासो मोक्षश्च परमते भवन्मते च कीदृश इत्याह;—

परैरनघ निर्वृतिः स्वगुणतत्त्वविध्वंसनं
व्यघोषि कपिलादिभिश्च पुरुषार्थविभ्रंशनं ।
त्वया सुमृदितैनसा ज्वलितकेवलौघश्रिया
ध्रुवं निरुपमात्मकं सुखमनन्तमव्याहतम् ॥ ४७ ॥

परैरिति—हे अनघ ! घातिकर्मलक्षणपापरहित ! परैर्वैशेषिकादिभिर्व्यघोषि प्रतिपादिता । काऽसौ, निवृत्तिर्मुक्तिः । किं तत्, स्वगुणतत्त्वविध्वंसनं स्वस्यात्मनो गुणा नव बुद्ध्यादयो तेषां तत्त्वं स्वरूपं तस्य विध्वंसनं निर्मूलच्छेदः, नैयायिकवैशेषिकैर्मुक्तिः कथिता, यदि वा गुणाश्च तत्त्वं च गुणतत्त्वानि स्वस्य गुणतत्त्वानि स्वगुणतत्त्वानि तेषां विध्वंसनं यौगैर्मुक्तिरुक्ता । स्वतत्त्वविध्वंसनं तु प्रदीपनिर्वाणवद्बौद्धैरिति । तथा कपिलादिभिश्च पुरुषार्थविभ्रंशनं निर्वृतिर्व्यघोषीति सम्बन्धः । कपिल आदिर्येषां तैः, आदिशब्दाद्ब्रह्माद्यद्वैतवादिपरिग्रहस्तैः पुरुषार्थविभ्रंशनं निर्वृतिरघोषीति सम्बन्धः । पुरुषार्थः सुखादिप्रयोजनं यदि वा पुरुषार्थो धर्मार्थकामलक्षणस्तस्य विभ्रंशनमात्मन्यभावः सुखादेर्धर्मादेश्च प्रकृतिस्वरूपत्वात्, शुद्धचैतन्यमात्रस्वभावत्वाच्चात्मनस्तदेतत्सर्वमनुपपन्नज्ञानादिदोषदुष्टैरुक्तत्वात् । भगवता किंस्वरूपा मुक्तिरुक्तेत्याह त्वयेत्यादि ना-त्वया जिनेन्द्रेण व्यघोषि निर्वृतिः । किं, सुखं । कथंभूतं, अनंतमन्तररहितं पुनरपि कथंभूतमव्याहतं दुःखादिभिरविहन्यमानं । पुनरपि किं विशिष्टं, ध्रुवं नित्यं, भूयोऽपि किं विशिष्टं, निरुपमात्मकं उपमायाः सादृश्यान्निष्क्रान्त आत्मा स्वभावो यस्य तत् । कथंभूतेन त्वया, सुमृदितैनसा सुष्ठु मृदितं ध्वस्तमेनो घातिकर्मचतुष्टयं येनाऽसौ तथोक्तस्तेन । पुनरपि कथंभूतेन,ज्वलितकेवलौघश्रिया केवलस्यौघो विच्छिन्नरूपसंततिप्रवाहस्तस्य श्रीर्यथावदर्थप्रकाशकत्वं ज्वलिता दीपिता केवलौघश्रीर्यस्य । केवलोग्रश्रियेति च पाठः केवले सति उग्रा महती श्रीरन्तरङ्गबहिरंगा लक्ष्मीर्यस्य तेनेति ॥ ४७ ॥

परेप्सितस्वेप्सितमुक्तिस्वरूपं निरूपयन्नाह;—

निरन्वयविनश्वरी जगति मुक्तिरिष्टा परै–
र्न कश्चिदिह चेष्टते स्वव्यसनाय मूढेतरः ।
त्वयाऽनु गुणसंहतेरतिशयोपलब्ध्यात्मिका
स्थितिः शिवमयी प्रवचने तव ख्यापिता ॥ ४८ ॥

निरन्वयेति–निरन्वयेण विनश्वरी विनशनशीला परैरन्यैर्जगति संसारे मुक्तिर्मोक्ष इष्टोक्ता, अमुमेवार्थं अर्थान्तरन्यासेन दृढयन्नाह न कश्चिदित्यादिना––इह जगत्यां कश्चित् कोऽपि मूढेतरः पण्डितः स्वव्यसनाय स्वदुःखप्राप्त्यै चेष्टतेन चेष्टांन कुरुते, मूर्खो हि स्वदुःखप्राप्त्यै चेष्टां कुरुते पण्डितस्तु कदापि नेति भावः। अन्यैर्जैनेतरैर्मुक्तिस्वरूपमन्यथा प्रकल्प्य स्वदुःखायैव चेष्टा विहितेत्यभिप्रायः। हे जिन! त्वया गुणसंहतेरनु सम्यक्त्वदर्शनाद्यष्टगुणसहिता अतिशयोपलब्ध्यात्मिका चतुस्त्रिंशदतिशयानामुपलब्धिः प्राप्तिरेवात्मा यस्या अतिशयोपलब्ध्यात्मिकैव तत्र स्थितिरवस्थानं । पुनश्च कथंभता, शिवमयी कल्याणमयी सुखमयीत्यर्थः यत्र कदाचिदपि न क्लेशलेश इति भावः। एवंभूता तव जिनेन्द्रस्य प्रवचन आगमे ख्यापिता प्रसिद्धेति ॥४८॥

एतस्या जिनेन्द्रगुणसंस्तुतेः माहात्म्यं दर्शयन्नाह;––

इयत्यपि गुणस्तुतिः परमनिर्वृतेः साधनी
भवत्यलमतो जनो व्यवसितश्च तत्काङ्क्षया।
विरंस्यति च साधुना रुचिरलोभलाभे सतां
मनोऽभिलषितासिरेव ननु च प्रयासावधिः ॥ ४९ ॥

इयत्यपीति– गुणानां स्तुतिः स्तवनं गुणस्तुतिः स्तुतिर्माहात्मस्याऽऽधिक्येन कथनमित्यपि गुणस्तुतिः परमनिर्वृतेरुत्कृष्टसुखस्य साधनी कारिणी तत्कांक्षया परमसुखवाञ्छया व्यवसित उद्यतो जनोऽतः इयत्या अपि गुणस्तुतेरलं भवति कार्यकारी भवति। अनया च किं भविष्यतीत्याह– अलोभलाभेऽलोभेन लाभे प्राप्ते सति सा परमनिर्वृत्तिर्लब्धिर्वाञ्छात्मिका रुचिः प्रीतिरधुनाऽस्मिन्समये विरंस्यति विराममवसानं प्राप्स्यति, " रमु क्रीडायां धातोरात्मनेपदेऽपि 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति व्याकरण सूत्रेण व्युपसर्गत्वात्परस्मैपदं " अत्रैवार्थान्तरन्यासमाह;––ननु निश्चयेन सतां सत्पुरुषाणां प्रयासावधिः परिश्रमावधिः मनोऽभिलषिताऽऽप्तिरेव चित्तवा–

ञ्छितप्राप्तिरेव; यावन्मनोऽभिलाषिताऽनाप्तिस्तावदेव सद्भिः प्रयासो विधीयते प्राप्तेः पश्चान्नेति ॥ ४९ ॥

अपरञ्च;--

इति मम मतिवृत्त्या संहतिं त्वद्गुणाना-
मनिशममितशक्तिं संस्तुवानस्य भक्त्या ।
सुखमनघमनंतं स्वात्मसंस्थं महात्मन् !
जिन ! भवतु महत्या केवलश्रीविभूत्या ॥ ५० ॥

इतीति—हे महात्मन् जिन ! इति पूर्वोक्तप्रकारेण मतिवृत्त्याऽनिशं निरन्तरं, संस्तुवानस्य स्तुतिं कुर्वतः । कां, त्वद्गुणानां तावकीनगुणानां संहतिं समूहं । कथंभूतां, अमितशक्तिं अमिता परिमाणरहिता शक्तिर्बलं यस्यां सा तां । कया कृत्वा, भक्त्या भक्तिपुरःस्सरं मम मे भवतु अस्तु । किं, सुखं । कथंभूतमनघमनवद्यं । पुनः कथंभूतं, अनन्तमवसानरहितं यस्य सुखस्य कदाप्यवसानं नेति भावः, । पुनः कथंभूतं, स्वात्मसंस्थं स्वस्याऽऽत्मा स्वात्मा तस्मिन् संस्थं सम्यक् स्थितं निजात्मस्वरूपं । कया सह भवतु, केवलश्रीविभूत्या केवलस्य श्रीः शोभा लक्ष्मीरतिशयादिप्राप्तिः सैव विभूतिः संपत्तया । कथंभूतया, महत्या । अत्र श्लोके मालिनीवृत्तं । तल्लक्षणं यथा " ननमयययुतेयं मालिनी सुप्रसिद्धा " इति ॥ ५० ॥

इति श्रीनिखिलतार्किकचूडामणि **विद्यानंदिस्वामि**प्रणीतं
बृहत्पंचनमस्कारस्तोत्रापरनामधेयं **पात्रकेसरिस्तोत्रं**
समाप्तम् ।

॥ श्रीः ॥

अथ वादिराजविरचितं
अध्यात्माष्टकम् ।

विभावाद्यभावात्स्वभावं वहंतं, सुबोधिप्रकर्षादबोधं दहन्तम् ।
नयातीतरूपं नयाम्भोधिचन्द्रं, भजेहं जगज्जीवनं श्रीजिनेन्द्रम् १
दयादेयभावादनादेयदूरं गुणानामभावाद्गुणाम्भोधिपूरम् ।
सुचारित्रचर्येक्षणाद्दावनिन्द्रम्, भजेहं... ॥ २ ॥
शुभं वाशुभं कर्म चैकं समस्तं, नयक्लिश्रितं बंधबीजं निरस्तम् ।
स्वभावातिरस्य स्वयं चाप्यतन्द्रं, भजेहं.... ॥ ३ ॥
द्वयं चाद्वयं वस्त्वनित्यं च नित्यं,त्रिधा लभ्यमेतत्त्ववक्तव्यचिन्त्यम्।
लसत्सप्तभङ्गोर्मिमालासमुद्रं, भजेहं... ॥ ४ ॥
कुतस्त्यो विरोधादिदोषावकाशो ध्वनिः स्यादिति स्यादहो यत्प्र-
काशः । इतीत्थं वदन्तं प्रमाणादरिद्रं, भजेहं... ॥ ५ ॥
प्रमाणं यतो द्वादशाङ्गाख्यशास्त्रं, सुवक्तुस्त्वतो धर्मकर्मादि पात्रम्।
फलं वा तपोद्वारभूद्भव्यभद्रं, भजेहं... ॥ ६ ॥
उपादानहाने फलं चाप्युपेक्षा परैरन्यथावादिमाने सुशिक्षा ।
तदाभा सद्वक्त्वाच्च तेषामभद्रं, भजेहं .. ॥ ७ ॥
अतुल्या अनन्ता गुणास्तावकीनाः सदोषा सतुच्छा मतिर्मामकीना।
पदं प्राप्यमेतावतैवाहमिंद्रं, भजेहं... ॥ ८ ॥
बाधाराद्यर्हणा ते समगतिसुखदा तुष्टिपुष्ट्यादिकर्त्री
दिव्या वागागमोत्था श्रुतिसरणिगतानंतमिथ्यात्वहर्त्री ।
रागद्वेषादिमुक्तो मुनिरिह विदितः शुद्धबोधाशयालु-
र्जन्मांहोवारणार्कं स्तवमिममसृजद्वादिराजो दयालुः ॥ ९ ॥

इति श्रीवादिराजविरचितमध्यात्माष्टकस्तोत्रम् ।

श्रीअमितगतिसूरिविरचिता
द्वात्रिंशतिका ।

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥ १ ॥
शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र कोषादिव खड्गयष्टिं
तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥ २ ॥
दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे
योगे वियोगे भुवने वने वा ।
निराकृताशेषममत्वबुद्धेः
समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥ ३ ॥
मुनीश ! लीनाविव कीलिताविव
स्थिरौ निषाताविव बिम्बिताविव ।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा
तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव ॥ ४ ॥
एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः,
प्रमादतः संचरता इतस्ततः ।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता,
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥ ५ ॥

विमुक्तिमार्गप्रतिकूलवर्त्तिना
मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया ।
चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं
तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो ॥ ६ ॥

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं
मनोवचःकायकषायनिर्मितम् ।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं
भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥ ७ ॥

अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं
जिनातिचारं सुचरित्रकर्म्मणः
व्यधामनाचारमपि प्रमादतः
प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये ॥ ८ ॥

क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं
व्यतिक्रमं शीलवृतेर्विलंघनम् ।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥ ९ ॥

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं
मया प्रमादाद्यदि किञ्चनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी
सरस्वती केवलबोधलब्धिम् ॥ १० ॥

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः
स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः ।
चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदाने
त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि ॥ ११ ॥

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दै-
र्यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः ।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १२ ॥

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः
समस्तसंसारविकारबाह्यः ।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १३ ॥

निषूदते यो भवदुःखजालं
निरीक्षते यो जगदन्तरालं ।
योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १४ ॥

विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो
यो जन्ममृत्युव्यसनाद्यतीतः ।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १५ ॥

क्रोड़ीकृताशेषशरीरिवर्गा
रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः ।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १६ ॥

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः
सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः ।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १७ ॥

न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषै-
र्यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः ।
निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

विभासते यत्र मरीचिमालि
न विद्यमाने भुवनावभासि[1] ।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ १९ ॥

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं
विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम् ।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं
तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ २० ॥

येन क्षता मन्मथमानमूर्छा
विषादनिद्राभयशोकचिन्ता ।
क्षयोऽनलेनेव तरुप्रपञ्च-
स्तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥ २१ ॥

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी
विधानतो नो फलको विनिर्म्मितः ।
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥ २२ ॥

न संस्तरो भद्रसमाधिसाधनं
न लोकपूजा न च संघमेलनम् ।

---

१ भुवने अवभासते इति भुवनावभास् (यथा भुवनसद्) तस्मिन् भुवनावभासि ।

यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं
विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम् ॥ २३ ॥

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था
भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥ २४ ॥

आत्मानमात्मन्यवलोकयमान-
स्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः ।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र
स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ॥ २५ ॥

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ॥ २६ ॥

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥ २७ ॥

संयोगतो दुःखमनेकभेदं
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥ २८ ॥

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं
संसारकान्तारनिपातहेतुम् ।

विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो
निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥ २९ ॥
स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं
स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥ ३० ॥
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो
न कोपि कस्यापि ददाति किंचन ।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः
परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥ ३१ ॥
यैः परमात्माऽमितगतिवन्द्यः
सर्वविविक्तो भृशमनवद्यः ।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते
मुक्तिनिकेतं विभववरं ते ॥ ३२ ॥
इति द्वात्रिंशतावृत्तैः परमात्मानमीक्षते ।
योऽनन्यगतचेतस्को यात्यसौ पदमव्ययम् ॥ ३३ ॥

इत्यमितगतिसूरविरचिता द्वात्रिंशतिका समाप्ता ।

अथ श्रीचंद्रकृता
वैराग्यमणिमाला ।

चिंतय परमात्मानं देवं योगिसमूहैः कृतपदसेवं ।
संसारार्णववरजले[१]यानं केवलबोधसुधारसपानं ॥ १ ॥
जीव जहीहि[२] धनादिकतृष्णां मुंच ममत्वं लेश्यां कृष्णां ।
धर चारित्रं पालय शीलं सिद्धिवधूक्रीडावरलीलं ॥ २ ॥
अध्रुव[३]मिदमाकलय[४] शरीरं जननीजनकधनादि सदारं ।
वांछां कुरुषे जीव नितांतं किं न हि पश्यसि मूढ कृतांतं[५] ॥ ३ ॥
बाल्ये वयसि क्रीडासक्तस्तारुण्ये सति रमणी[६]रक्तः ।
वृद्धत्वेऽपि धनाशाकष्टस्त्वं भवसीह नितांतं दुष्टः ॥ ४ ॥
का ते आशा यौवनविषये अध्रुवजल बुद्बुदसमकाये ।
मृत्वा यास्यसि निरय[७]निवासं न जहसि[८] तदपि धनाशापाशं ५
भ्रातर्मे वचनं कुरु सारं चेत्त्वं वांछसि संसृतिपारं ।
मोहं त्यक्त्वा कामं क्रोधं त्यज भज त्वं संयमवरबोधं ॥ ६ ॥
का ते कांता कस्तव तनयः संसारोऽपि च दुःखमयो यः ।
पूर्वभवे त्वं कीदृग्भूतः पापास्रवकर्मभिरभि[९]भूतः ॥ ७ ॥
शरणमशरणं भावय सततमर्थमनर्थं चिंतय नियतं ।
नश्वरकायपराक्रमवित्ते वांछां कुरुषे तस्य हि चित्ते ॥ ८ ॥
एको नरके याति वराकः स्वर्गे गच्छति शुभसविवेकः ।
राजाप्येकः स्याच्च धनेशः एकः स्यादविवेको दासः ॥ ९ ॥

---

१ तरणिः २ त्यज ३ नश्वरं ४ जानीहि ५ यमम् । ६ स्त्रीरतः ७ नरकस्थानं ८ त्यजसि ९ तिरस्कृतः ।

एको रोगी शोकी एको दुःखविहीनो दुःखी एकः ।
व्यवहारी च दरिद्री एक एकाकी भ्रमतीह वराकः ॥ १० ॥
अथिरं[1] परिजनपुत्रकलत्रं सर्वं मिलितं दुःखामत्रं[2] ।
चेतसि चिंतय नियतं भ्रातः ! का ते जननी कस्तव तातः॥११॥
भ्रातर्भूतगृहीतोऽसि त्वं दारनिमित्तं हिंससि सत्त्वं ।
तेनाऽघेन च यास्यसि नरकं तत्र सहिष्यसि घोरातंकं ॥ १२ ॥
विषयपिशाचासंगं मुंच[3] क्रोध कषायौ मूलाल्लुंचे ।
कंदर्प[4]प्रभोर्मानं कुंच[5] त्वं लुंपे[6]न्द्रियचौरान् पंचं ॥ १३ ॥
कुत्सितकुथितशरीरकुटीरं स्तननाभी मांसादिविकारं ।
रेतःशोणितपूयापूर्णं जघनच्छिद्रं त्यज रे ! तूर्णं ॥ १४ ॥
संसाराब्धौ कालमनंतं त्वं वसितोऽसि वराक ! नितांतं ।
अद्या[7]ऽपि त्वं विषयाऽऽसक्तः भव तेषु त्वं मूढ ! विरक्तः[8] ॥१५॥
दुर्गतिदुःखसमूहैर्भग्नस्तेषां पृष्ठे पुनरपि लग्नः ।
विकलो मत्तो भूताविष्टः पापाचरणे जंतो ! दुष्टः ॥ १६ ॥
सप्तधातुमयपुद्गलपिंडः कृमिकुलकलितामयफणिखंड ।
.........तदपि हि मूर्ध्नि पतति यमदंडः ॥ १७ ॥
मा कुरु यौवनधनगृहगर्वं तव कालस्तु हरिष्यति सर्वं ।
इंद्रजालमिदमफलं[11] हित्वा[12] मोक्षपदं च गवेषय[13] मत्त्वा ॥ १८ ॥
नीलोत्पलदलगतजलचपलं इंद्रचापविद्युत्समतरलं[14] ।
किं न वेत्सि संसारमसारं भ्रांत्या जानासि त्वं सारं ॥ १९ ॥
शोकवियोगभयैः संभरितं संसारारण्यं त्यज दुरितं ।
कस्त्वां हस्ते दृढमिव धृत्वा बोधिष्यति कारुण्यं कृत्वा ॥ २० ॥

---

१ अनित्यं २ अतिदुःखं ३ विनाशय । ४ कामस्य ५ खंडय ६ मारय ७ अद्यावधि अपि ८ विरागी ९ रक्तास्थिमज्जादयः सप्तधातवः १० यमः ११ फलरहितं १२ त्यक्त्वा १३ अन्वेषय १४ चंचलं ।

मुंच परिग्रहवृन्दमशेषं चारित्रं पालय सविशेषं ।
कामक्रोधनिपीलनयंत्रं ध्यानं कुरु रे जीव ! पवित्रं ॥ २१ ॥
मुंच विनोदं कामोत्पन्नं पश्य शिवं त्वं शुभसंपन्नं ।
यास्यसि मोक्षं प्राप्स्यसि सौख्यं कृत्वा शुक्लं ध्यानं सख्यं ॥२२॥
आशावसनवसानो भूत्वा कामोपाधिकषायान् हित्वा ।
गिरिकंदरगहनेषु स्थित्वा कुरु सद्ध्यानं ब्रह्म विदित्वा ॥ २३ ॥
यमनियमासनयोगाभ्यासान् प्राणायामप्रत्याहारान् ।
धारणध्येयसमाधीन् धारय संसाराब्धेर्जीवं तारय ॥ २४ ॥
अर्हत्सिद्धमुनीश्वरसाक्षं चारित्रं यदुपात्तं दक्षं ।
तत्त्वं पालय यावज्जीवं संसारार्णवतारणनावं ॥ २५ ॥
सावधिवस्तुपरित्यजनं यत् रक्षय शुद्धमनाः शुद्धं तत् ।
औदास्यं शाम्यं संपालय आशादासीसंगं वारय ॥ २६ ॥
पर्यंकादिविधेरभ्यासं यत्नतया कुरु योगाऽभ्यासं ।
दुर्धरमोहमहासितसर्पं कीलय बोधय मर्दय दर्पं ॥ ॥ २७ ॥
पूरककुंभकरेचकपवनैः संसारेंधनदाहनदहनैः ।
कृत्वा निर्मलकायं पूर्वं त्वं यदि वांछसि मोक्षमपूर्वं ॥ २८ ॥
घ्राणविनिर्गतपवनसमूहं रुंधित्वा स्फेटय कलिनिवहं ।
दशमद्वारि विलीनं कुरु तं लभसे केवलबोधमनंतं ॥ २९ ॥
हृदयादानीय च नाभिं प्रति वायुं तदनु च तं पूरयति ।
योगाभ्यासचतुरयोगींद्राः पूरकलक्षणमाहुरतंद्राः ॥ ३० ॥
नाभिसरोजे पवनं रुध्वा स्थिरतरमत्र नितांतं बध्वा ।
पूर्णकुंभवन्निर्भररूपं कथयति योगी कुंभकरूपं ॥ ३१ ।
निस्सारयति शनैस्तं कोष्ठात् पवनं यो योगीश्वरवचनात् ।
रेचकवातं योगी कथयति यो जीवान् मोक्षं प्रापयति ॥ ३२ ॥

---

१ शैलगुहादिनिर्जनस्थानेषु २ पूरककुम्भकरेचकानि वायुनामानि ।

नासामध्ये नगरचतुष्टयमस्ति नितांतं मूढ ! विचारय ।
तत्रोत्पत्तेर्वातचतुर्णां संचरणां च कलय संपूर्णां ॥ ३३ ॥
चक्षुर्विषये श्रवसि ललाटे नाभौ तालुनि हृत्कजनिकटे ।
तत्रैकस्मिन् देशे चेतः सद्ध्यानी धरतीत्यतिशांतं ॥ ३४ ॥
योजनलक्षप्रमितं कमलं संचिंत्यं चांबूनदविमलं ।
कोशदेशमंदिरगिरिसहितं क्षीरसमुद्रसरोवरसहितं ॥ ३५ ॥
तस्योपरि सिंहासनमेकं तत्र स्थित्वा कुरु सद्ध्यानं ।
......प्राप्स्यसि जीव ! शिवाऽमृतपानं ॥ ३६ ॥
तदनंतरमाध्येयं रम्यं नाभीमध्ये कमलं सौम्यं ।
षोडशपत्रप्रमितं सारं स्वरमालान्वितपत्राऽऽधारं ॥ ३७ ॥
रेफकलाबिंदुभिरानद्धं तन्मध्ये संस्थाप्यं शुद्धं ।
शून्यं वर्णं सत्वंतत्वं तेजोमयमाशं संदिव्यं ॥ ३८ ॥
तस्मान्निर्यान्ती धूमाली पश्चादग्निकणानामाऽऽली ।
संचिंत्यानुज्वालाश्रेणी भव्यानां भवजलधेर्द्रोणी ॥ ३९ ॥
ज्वालानां निकरेण ज्वाल्यं कर्मकजाष्टकपत्रं शल्यं ।
अवतानं हृदयस्थं चिंत्यं मोक्षं यास्यसि मानय सत्यं ॥ ४० ॥
कोणत्रितयसमन्वितकुंडं वन्हिबीजवर्णैरविखंडम् ।
दग्धय मध्ये क्षिप्त्वा पिंडं पश्यसि सिद्धिवधूवरतुंडं ॥ ४१ ॥
आकाशं संपूर्णं व्याप्य पृथ्वीवलयं सर्वं प्राप्य ।
वातं वातं हृदि संभारय परमानंदं चेतसि धारय ॥ ४२ ॥
तेन वातवलयेनोड्डाप्यं भस्मवृंदमनुदिनमास्थाप्यं ।
द्वादशांतमध्ये सद्ध्यानं कुरु सिद्धानां परमं ध्यानं ॥ ४३ ॥

---

१ श्रोत्रे । २ श्रेष्ठध्यानं धर्मशुक्लाविति । ३ द्रोणी काष्ठाम्बुवाहिनी । ४ ज्वालय ।
५ स्थाप्य ।

आकाशे संगर्जितमुदिरं सेन्द्रचापमासारसुसारं ।
नीरपूरसंप्लावितसूरं संरोधयेति घनाघननिकरं ॥ ४४ ॥
अर्धचंद्रपुटसमसंराधं वारणपुरसंचिंत्यमबाधं ।
अमृतपूरवर्षणशशिसारं तुष्टयोगिवप्पीहकनिकरं ॥ ४५ ॥
कांत्या स्नापितदशदिग्वलयं दर्शनबोधवीर्यशिवनिलयं ।
चिन्मयपिंडं वर्जितवलयं स्मर निजजीवं निर्मलकायं ॥४६॥
भामण्डलनिर्जितरविकोटिं शुक्लध्यानाऽमृतसंपुष्टिं ।
तीर्थंकरपरमोत्तमदेवं स्वात्मानं स्मर कृतसुरसेवं ॥ ४७ ॥
कुंभवातेन च तं संचिंत्यं ऊर्ध्वरेफसंयुक्तं नित्यं ।
सकलविंदुनानाहतरूपं स्थापय चित्ते छेदितपापं ॥ ४८ ॥
कमलमेकमारोपय चाग्रे आरोप्य स्मर तद्दलवर्गं ।
सर्वमंत्रबीजं हृदि नितरां कामक्रोधकषायैर्विरतं ॥ ४९ ॥
शरदिंदोर्निर्गच्छंतं संतं मंत्रराजमाराधय सततं ।
तालुसरोरुहमागच्छंतं मेघाऽमृतधारावर्षंतं ॥ ५० ॥
भ्रूलतयोर्मध्ये चाऽऽरोप्यं उड्डाप्य घ्राणाग्रे स्थाप्यं ।
पुनरुद्भ्राम्य च हृदये धार्यं नेत्रोत्पलविषये तत्कार्यं ॥ ५१ ॥
सोमदेवसूरेरुपदेशः कार्यश्चित्ते शुभसंवेशः ।
लंबीजाक्षरमारोप्यांते विद्वद्भिर्मुक्त्यैर्नासांते ॥ ५२ ॥
एवमादिमंत्राणां स्मरणं कुरु जीव ! त्वं तेषां शरणं ।
यत् सामर्थ्याद्विजहसि मरणं संसाराब्धेः कुरुषे तरणं ॥५३॥
अविचलचित्तं धारय बंधो ! यास्यसि पारं संसृतिसिंधोः ।
त्वं च भविष्यसि केवलबोधो हंस त्वं प्राप्स्यसि शिवसिंधोः ५४

१ भामंडलेन निर्जिता रविकोटिर्येन तं । २ देवैः सेवितम् । ३ मुंचासि ।
४ स्थिरचित्तं । ५ समुद्रे यथा हंसस्तथा शिवाब्धौ त्वमपि हंसत्वं गमिष्यासि ।

शुद्धरूपचिन्मयचित्पिंडं भिज्ज्योतिश्चिच्छक्त्योर्नीडं।
चिद्रम्यं चित्कौमुदिचंद्रं स्मर बोधाधिपतिं गुणसांद्रं ॥ ५५ ॥
निर्मलचिद्रूपामृतसिंधुं शुक्लध्यानांबुजकजबंधुम्।
सिद्धिवधूसरसीवरहंसं पश्य शिवं शांतं च निरंशं ॥ ५६ ॥
ज्ञानार्णवकल्लोलकलापे क्रीडति योऽजस्रं शिवरूपे।
नवकेवललब्धिभिरापूर्णः सेव्यते मुनिभिर्गतवर्णः ॥ ५७ ॥
केवलकैरविणीविमेशं मुक्तिकामिनीकर्णवतंसं।
त्रिभुवनलक्ष्मीभालविशेषं लब्धिसौधरत्नानां कलशं ॥ ५८ ॥
शिवहंसीसंगमसस्नेहं अष्टगुणोपेतं च विदेहं।
बोधिसुधारसपानपवित्रं साम्यसमुद्रं त्रिभुवननेत्रं ॥ ५९ ॥
अनाद्यखंडाचलसद्वेद्यं योगिवृंदवृंदारकवंद्यं।
हरिहरब्रह्मादिभिरभिवंद्यं केवलकल्याणोत्सवहृद्यं ॥ ६० ॥
[1]श्रुतशैवलिनी सुरगिरिविधुरं निःश्रेयसलक्ष्मीकरमुकुरं।
[2]कर्ममहीधरभेदनभिदुरं श्यामश्रीग्रीवालंकारं ॥ ६१ ॥
व्योमाकारं पुरुषमरूपं [3]निर्वापितसंसृतिसंतापं।
वर्जितकामदहनसंपातं त्रिभुवनभव्यजीवहिततातं ॥ ६२ ॥
इत्यादिकगुणगणसंपूर्णं चिंतय परमात्मानं तूर्णं।
अष्टप्रवचनमातुः पितरं पारीकृताजवंजवपारं ॥ ६३ ॥
निजदेहस्थं स्मर रे मूढ ! त्वं नोचेद्भ्रमिष्यसि गूढः।
मूर्खाणां मध्ये त्वं रूढः त्वं च भविष्यस्यग्रे षंढः ॥ ६४ ॥
एकमनेकं स्वं संभारय शुद्धमशुद्धं स्वं संतारय।
लक्ष्यमलक्ष्यं स्वं संपारय कर्मकलंकं त्वं संदारय ॥ ६५ ॥

---

१ शास्त्रसरित्। २ कर्मशैलछेदनशितं। ३ निर्वापितः शमितः संसृतेः संतापो येन।

बद्धमबद्धं रिक्तमरिक्तं शून्यमशून्यं व्यक्ताऽव्यक्तं ।
रुष्टमरुष्टं दुष्टादुष्टं शिष्टमशिष्टं पुष्टाऽपुष्टं ॥ ६६ ॥
अंतर्भेदज्ञानविचारैः व्यवहाराव्यवहारासारैः ।
वर्ण्यंते देहस्थं पुरुषैर्विषयविरक्तैर्ज्ञानविशेषैः ॥ ६७ ॥
[2]विरम विरम बाह्यादिपदार्थे रम रम[3] मोक्षपदे च हितार्थे ।
कुरु कुरु निजकार्यं च वितंद्रः[4] भव भव केवलबोधयतीन्द्रः
मुंच मुंच विषयाऽमिषभोगं लुंप लुंप निजतृष्णारोगं ।
रुंध[5] रुंध मानस मातंगं धर धर जीवविमलतरयोगं ॥ ६९ ॥
चिंतय निजदेहस्थं सिद्धं आलोचय कायस्थं बुद्धं ।
स्मर पिंडस्थं परमविशुद्धं कल केवलकेलीशिवलब्धं ॥ ७० ॥
वैराग्यमणिमालेयं रचिता सततिप्रमा ।
ब्रह्मश्रुताब्धिशिष्येण श्रीचंद्रेण मुमुक्षुणा ॥ ७१ ॥

समाप्तेयं श्रीचंद्रकृता वैराग्यमणिमाला ।

---

१ इंद्रियसुखविरागिभिः । २ निवृत्तिं कुरु । ३ लीनो भव । ४ प्रमादरहितः सन् ।
५ वारय वारय ।

श्रीः ।

श्रीदेवसेनकृतः

तत्त्वसारः ।

झाणग्गिदड्ढकम्मे णिम्मलसुविसुद्धलद्धसब्भावे ।
णमिऊण परमसिद्धे सु तच्चसारं पवोच्छामि ॥ १ ॥
तच्चं बहुभेयगयं पुव्वायरिएहिं अक्खियं लोए ।
धम्मस्स वत्तणट्ठं भवियाण पवोहणट्ठं च ॥ २ ॥
एवं सगयं तच्चं अण्णं तह परगयं पुणो भणियं ।
सगयं णियअप्पाणं इयरं पंचावि परमेट्ठी ॥ ३ ॥
तेसिं अक्खररूवं भवियमणुस्साण झायमाणाणं ।
बुज्झइ पुण्णं बहुसो परंपराए हवे मोक्खो ॥ ४ ॥
जं पुणु सगयं तच्चं सवियप्पं हवइ तह य अवियप्पं ।
सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं ॥ ५ ॥
इंदियविसयविरामे मणस्स णिल्लुरणं हवे जइया ।
तइया तं अविअप्पं ससरूवे अप्पणो तं तु ॥ ६ ॥
समणे णिच्चलभूये णट्ठे सव्वे वियप्पसंदोहे ।
थक्को सुद्धसहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो ॥ ७ ॥
जो खलु सुद्धो भावो सो अप्पणितं च दंसणं णाणं ।
चरणंपि तं च भणियं सा सुद्धा चेयणा अहवा ॥ ८ ॥
जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च ।
तं णाऊण विसुद्धं झायह होऊण णिग्गंथो ॥ ९ ॥

बहिरब्भंतरगंथा मुक्का जेणेह तिविहजोएण ।
सो णिग्गंथो भणिओ जिणलिंगसमासिओ सवणो ॥ १० ॥
लाहालाहे सरिसो सुहदुक्खे तह य जीविए मरणे ।
बंधो अरयसमाणो झाणसमत्थो हु सो जोई ॥ ११ ॥
कालाइलद्धिणियडा जह जह संभवइ भव्वपुरिसस्स ।
तह तह जायइ णूणं सुसव्वसामग्गिमोहट्ठं ॥ १२ ॥
चलणरहिओ मणुस्सो जह वंछइ मेरुसिहरमारुहिउं ।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खयं साहू ॥ १३ ॥
संकाकंखागहिया विसयपसत्था सुमग्गपब्भट्ठा ।
एवं भणंति केई ण हु कालो होइ झाणस्स ॥ १४ ॥
अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुरलोयं ।
तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं ॥ १५ ॥
तम्हा अब्भसउ सया मुत्तूणं रायदोसवामोहो ।
झायउ णियअप्पाणं जइ इच्छइ सासयं सुक्खं ॥ १६ ॥
दंसणणाणपहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो ।
सगहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा ॥ १७ ॥
रायादिया विभावा बहिरंतरउहवियप्प मुत्तूणं ।
एयग्गमणो झायहि णिरंजणं णिययअप्पाणं ॥ १८ ॥
जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेसाओ ।
जाइजरामरणं विय णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥ १९ ॥
णत्थि कला संठाणं मग्गणगुणठाण जीवठाणाइं ।
णाइं लद्धिबंधठाणा णोदयठाणाइया केई ॥ २० ॥
फासरसरूवगंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो ।
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥ २१ ॥

अत्थित्ति पुणो भणिया णएण ववहारिएण ए सव्वे ।
णोकम्मकम्मणादी पज्जाया विविहभेयगया ॥ २२ ॥
संबंधो एदेसिं णायव्वो खीरणीरणाएण ।
एकत्तो मिलियाणं णियणियसब्भावजुत्ताणं ॥ २३ ॥
जह कुणइ कोवि भेयं पाणियदुद्धाण तक्कजोएण ।
णाणी व तहा भेयं करेइ वरझाणजोएण ॥ २४ ॥
झाणेण कुणउ भेयं पुग्गलजीवाण तह य कम्माणं ।
घेत्तव्वो णियअप्पा सिद्धसरूवो परो बंभो ॥ २५ ॥
मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो ।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ॥ २६ ॥
णोकम्मकम्मरहिओ केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो ।
सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालंबो ॥ २७ ॥
सिद्धोहं सुद्धोहं अणंतणाणाइगुणसमिद्धोहं ।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य ॥ २८ ॥
थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे ।
पयडइ बंभसरूवं अप्पाझाणेण जोईणं ॥ २९ ॥
जह जह मणसंचारा इंदियविसयावि उवसमं जंति ।
तह तह पडयइ अप्पा अप्पाणं जाण हे सूरो ॥ ३० ॥
मणवयणकायजोया जइणो जइ जंति णिव्वियारत्तं ।
तो पयडइ अप्पाणं अप्पा परमप्पयसरूवं ॥ ३१ ॥
मणवयणकायरोहे रुज्झइ कम्माण आसवो णूणं ।
चिरबद्धं गलइ सई फलरहियं जाइ जोईणं ॥ ३२ ॥
लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो ।
उग्गतवंपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥ ३३ ॥

परदव्वं देहाई कुणइ ममत्तिं च जाम तस्सुवरिं ।
परसमयरदो तावं वज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥ ३४ ॥
रूसइ तूसइ णिच्चं इंदियविसयेहिं संगओ मूढो ।
सकसाओ अण्णाणी णाणी एदो दु विवरीदो ॥ ३५ ॥
चेयणरहिओ दीसइ ण य दीसइ इत्थ चेयणासहिओ ।
तम्हा मज्झत्थोहं रूसेमि य कस्स तूसेमि ॥ ३६ ॥
अप्पसमाणा दिट्ठा जीवा सव्वेवि तिहुअणत्थावि ।
जो मज्झत्थो जोई ण य तूसइ णेय रूसेइ ॥ ३७ ॥
जंमणमरणविमुक्का अप्पपएसेहिं सव्वसामण्णा ।
सगुणेहि सव्वसरिसा णाणमया णिच्छयणएण ॥ ३८ ॥
इय एयं जो बुज्झइ वत्थुसहावं णएहिं दोहिंपि ।
तस्स मणो डहुलिज्जइ ण रायदोसेहि मोहेहिं ॥ ३९ ॥
रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं ।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥ ४० ॥
सरसलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियंपि जह रयणं ।
मणसलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले ॥ ४१ ॥
दिट्ठे विमलसहावे णियतच्चे इंदियत्थपरिचत्ते ।
जायइ जोइस्स फुडं अमाणसत्तं खणद्धेण ॥ ४२ ॥
णाणमयं णियतच्चं मिल्लिय सव्वेवि परगया भावा ।
तं छंडिय भावेज्जो सुद्धसहावं णियप्पाणं ॥ ४३ ॥
जो अप्पाण झायदि संवेयणचेयणाइउवजुत्तं ।
सो हवइ वीयराओ णिम्मलरयणप्पओ साहू ॥ ४४ ॥
दंसणणाणचरित्तं जोई तस्सेह णिच्छयं भणियं ।
जो वेयइ अप्पाणं सचेयणं सुद्धभावट्ठं ॥ ४५ ॥

झाणट्ठिओ हु जोई जइ णो सम्वेय णियअप्पाणं ।
तो ण लहइ तं सुद्धं भग्गविहीणो जहा रयणं ॥ ४६ ॥
देहसुहे पडिबद्धो जेण य सोतेण लहइ ण हु सुद्धं ।
तच्चं वियाररहियं णिच्चं चिय झायमाणो हु ॥ ४७ ॥
मुक्खो विणासरूवो चेयणपरिवज्जिओ सयादेहो ।
तस्स ममत्ति कुणंतो बहिरप्पा होइ सो जीओ ॥ ४८ ॥
रोयं सडणं पडणं देहस्स य पिच्छिऊण जरमरणं ।
जो अप्पाणं झायदि सो मुच्चइ पंचदेहेहि ॥ ४९ ॥
जं होइ भुंजियव्वं कम्मं उदयस्स आणियं तवसा ।
सयमागयं च तं जइ सो लाहो णत्थि संदेहो ॥ ५० ॥
भुंजंतो कम्मफलं कुणइ ण रायं च तह य दोसं वा ।
सो संचियं विणासइ अहिणवकम्मं ण बंधेइ ॥ ५१ ॥
भुंजंतो कम्मफलं भावं मोहेण कुणइ सुहमसुहं ।
जइ तं पुणोवि बंधइ णाणावरणादि अट्ठविहं ॥ ५२ ॥
परमाणुमित्तपयं जाम ण छंडेइ जोइ समणम्मि ।
सो कम्मेण ण मुच्चइ परमट्ठवियाणवो सवणो ॥ ५३ ॥
सुहदुक्खं पि सहंतो णाणी झाणम्मि होइ दिढचित्तो ।
हेउं कम्मस्स तओ णिज्जरणट्ठाइमो सवणो ॥ ५४ ॥
ण मुएइ सगं भावं ण परं परिणमइ मुणइ अप्पाणं ।
जो जीवो संवरणं णिज्जरणं सो फुडं भणिओ ॥ ५५ ॥
ससहावं वेदंतो णिच्चलचित्तो विमुक्कपरभावो ।
सो जीवो णायव्वो दंसणणाणं चरित्तं च ॥ ५६ ॥
जो अप्पा तं णाणं जं णाणं तं च दंसणं चरणं ।
सा सुद्धचेयणावि य णिच्छयणयमस्सिए जीवे ॥ ५७ ॥

उभयविणट्ठे भावे णियउवलद्धे सुसुद्धससरूवे ।
विलसइ परमाणंदो जोईणं जोयसत्तीए ॥ ५८ ॥
किं कीरइ जोएण जस्स य ण हु अत्थि एरिसा सत्ती ।
फुरइ ण परमाणंदो सच्चेयणसंभवो सुहदो ॥ ५९ ॥
जा किंचिवि चलइ मणो झाणे जोइस्स गहिय जोयस्स ।
ताव ण परमाणंदो उप्पज्जइ परमसोक्खयरो ॥ ६० ॥
सयलवियप्पे थक्के उप्पज्जइ कोवि सासओ भावो ।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सो हु ॥ ६१ ॥
अप्पसहावे थक्को जोई ण मुणेइ आगए विसए ।
जाणिय णियअप्पाणं पिच्छयतं चेव सुविसुद्धं ॥ ६२ ॥
ण रमइ विसएसु मणो जोइस्स हु लद्धसुद्धतच्चस्स ।
एकीहवइ णिरासो मरइ पुणो आणसत्थेण ॥ ६३ ॥
ण मरइ तावेत्थ मणो जाम ण मोहो खयंगओ सव्वो ।
खीयंति खीणमोहे सेसाणि य घाइकम्माणि ॥ ६४ ॥
णिहए राए सेण्णं णासइ सयमेव गलियमाहप्पं ।
तह णिहयमोहराए गलंति णिस्सेसघाईणि ॥ ६५ ॥
घाइचउक्के णट्ठे उप्पज्जइ विमलकेवलं णाणं ।
लोयालोयपयासं कालत्तयजाणगं परमं ॥ ६६ ॥
तिहुअणपुज्जो होउं खविओ सेसाणि कम्मजालाणि ।
जायइ अभूदपुव्वो लोयग्गणिवासिओ सिद्धो ॥ ६७ ॥
गमणागमणविहीणो फंदणचलणेहि विरहिओ सिद्धो ।
अव्वाबाहसुहत्थो परमट्ठगुणेहिं संजुत्तो ॥ ६८ ॥
लोयालोयं सव्वं जाणइ पिच्छेइ करणकमरहियं ।
मुत्तामुत्ते दव्वे अणंतपज्जायगुणकलिए ॥ ६९ ॥

धम्माभावे परदो गमणं णत्थित्ति तस्स सिद्धस्स ।
अत्थइ अणंतकालं लोयग्गणिवासिउं होउं ॥ ७० ॥
संते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छइ तह य तिरियं वा ।
उड्ढं गमणसहाओ मुक्को जीवो हवे जम्हा ॥ ७१ ॥
असरीरा जीवघणा चरमसरीरा हवंति किंचूणा ।
जम्मणमरणविमुक्का णमामि सव्वे पुणो सिद्धा ॥ ७२ ॥
जं तल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरं विसमं ।
तं सव्वजीवसरणं णंदउ सगपरगयं तच्चं ॥ ७३ ॥
सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाहदेवसेणेण ।
जो सद्दिट्ठी भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥ ७४ ॥

इति श्रीदेवसेनकृतः तत्त्वसारः समाप्तः ।

ब्रह्महेमचंद्रविरचितः

श्रुतस्कंधः ।

रिसहाइवीरअंतहं चउवीसजिणाण णमहु पयजुयलं ।
बारस अंगाइं सुदं कमविहियं भविय णिसुणेहु ॥ १ ॥

उसप्पिणिअवसप्पिणिकालदुगं जाण दक्खिणे भरहे ।
सायरकोडाकोडीअट्ठदसं भोयभूमिगया ॥ २ ॥

पल्लस्सट्ठमभाएचउदहणं कुलयराण उप्पत्ती ।
अंतिल्लणाहिणामो तस्स तिया णाम मरुदेवी ॥ ३ ॥

सुसमदुसमाइअंते वासतयं अट्ठमासपक्खा य ।
चुलसीदिलक्खपुव्वं णाहीसुयरिसहउप्पत्ती ॥ ४ ॥

वीसं लक्खं पुव्वं बालत्तणि रज्जि लक्खतेसट्ठी ।
णीलंजसाविणासो दिट्ठो संसारविरदो य ॥ ५ ॥

लइओ चरित्तभारो छदमत्थे वरससहसु गउकालो ।
केवलणाणुप्पणो देवागमु तत्थ संजादो ॥ ६ ॥

समवसरणपरियरियो विहरइ गणसहिउ भव्व बोहंतो ।
पुणु सुदु अणाइणिहणं रिसहजिणो तत्थ पयडेइ ॥ ७ ॥

अवगहईहावाओधारण इंदियमणे बहुविहादी ।
छत्तीसा तिण्णिसया भेया मदिपुव्वसत्थोयं ३३६ ॥ ८ ॥

वयसमिदिगुत्तियादी आयारंगं कहेइ सविसेसं ।
अट्ठारसहस्सपयं भवियजणा णमहु भावेण १८००० ॥ ९ ॥

णाणं तह विणयादी किरियाविविहं परूवणं भणियं ।
छत्तीसं च सहस्सा सुद्दयडपयं णमंसामि ३६००० ॥ १० ॥
जीवमजीवं दव्वं धम्माधम्मं च कालमायासं ।
वायालसहस्सपयं ठाणं पडिवायकं ठाणं ॥ ४२००० ॥ ११ ॥
दव्वे धम्माधम्मे लोयायासेहिं चेय जीवाणं ।
खित्ते जंबूदीवे कालो उसप्पिणिजुगादो ॥ १२ ॥
भावे दंसणणाणं भावे पडियायकं समवायं
अडक्किदिसहस्सलक्खं पयसंखा थुणहं णियमेण १६४०००॥१३॥
किं अत्थि णत्थि जीवो गणहरसट्ठीसहस्सकयपण्हा ।
अडदुगदोयतिसुण्णं पयसंखविवायपण्णत्ती २२८००० ॥१४॥
तित्थयरगणहराणं धम्मकहाऊ कहंति णित्ताओ ।
छप्पण्णं च सहस्सा पणलक्खा सुयपयं वंदे ५५६००० ॥१५॥
सदरिं सहस्सलक्खं एयारहपयहसंखपरिमाणं ।
सावयवयं विसेसं तं भणियमुवासयज्झयणं ११७००००॥१६॥
तेवीसं अडवीसं लक्खसहस्साउ सुपयमंतकयं ।
अंतयडदसदसमुणे तित्थे तित्थे णमंसामि २३२८००० ॥ १७॥
बाणउदिलक्खसहस्सा चउदालं पयमणुत्तरे णवामि ।
पडितिच्छेदसदसमुणिउ सग्गाणुत्तरे पत्ता ॥९२४४०००॥१८॥
चउवग्गं तेणवदी सुणतयं सपयपण्हवायरणं ।
णट्ठमुट्ठादिपण्हा जाणदि दसमो य अंगोवि ॥९३१६०००॥१९॥
चुलसीदिसयसहस्सा कोडिपयं तह विवायसुत्तं वा ।
सादासादविवायं सूययरं णमहु भावेण ॥१८४००००० ॥२०॥
सुण्णतियं दुगसुण्णं पणेक्कचउकोडिमाण सव्वपयं ।
एयारसअंगादी पणमामि तिसुद्धिसुद्धेण ॥४१५०२०००॥२१॥

परियम्मसुत्तपुव्वंगपढमाणिओय चूलिया सहिया ।
पंचपयारं भणियं दिट्ठिवादं जिणिंदेहिं ॥ २२ ॥

चंदाउपमुहवादी पंचसहस्साइं लक्खछत्तीसा ।
पइपरिमाणपमाणं सा जाणहु चंदपण्णत्ती॥३६०५०००॥२३॥

सूरस्स य परिवारं आउगईचारगइसुखेत्तादी ।
सहसतियं पणलक्खं पयसंखा सूरपण्णत्ती ॥५०३०००॥२४॥

जंबू जोयणलक्खो कुलसेलसुखित्तभोयभूमादी ।
पणवग्गतियतिसुण्णं पय जंबूदीवपण्णत्ती ॥३२५०००॥ २५ ॥

बावण्णं छत्तीसं लक्खसहस्सं पदस्स परिमाणं ।
दीवअसंखसमुद्दा भणिया दीउवहिपण्णत्ती ॥५२३६०००॥२६॥

लेस्सातियचउकम्मं पयाण संखा य सुण्णतयसहिया ।
छद्दव्वाइसरूवं भासंति वियायपण्णत्ती ॥८४३६०००॥ २७ ॥

इगकोडिपणसहस्सा सीदीइगिअहियलक्खपरिमाणं ।
एवं पंचपयारं परियम्मं णिच्छयं जाण ॥ १८१०५००० ॥२८॥

द्वादशांगस्य य दृष्टिवादस्य प्रथमपरिकर्म्म तस्य भेदाः पंच कथिताः ॥छ॥

अडसीदी लक्खपयं कत्ता भुत्ता य कम्मफल जीवो ।
सव्वगयादियधम्मो सुत्तयडो फेडणो होइ ॥ ८८०००० ॥२९॥

पणअहियं पणसुण्णं पणपणणवअंकपुव्वपरिमाणं ।
उप्पायवयधुवाणं पुव्वग्गयपुव्वगं वंदे ॥९५५०००००५ ॥३०॥

तित्थयरचक्कवट्टीबलदेवावासुदेवपडिसत्तू ।
पंचसहस्सपयाणं एसकहा पढमअणिओगो ॥ ५००० ॥ ३१ ॥

सुण्णदुगं वाणवदी अडणवदीसुण्णदोविकोडिपयं ।
जलगमणथंभणादी पडिवादइ जलगदा णेया २०९८९२००॥३२

सुण्णदुगं वाणउदी अडणवदी सुण्णदोविकोडिपयं ।
भूगमणकारणादी मंतं तंतं मुणइ थलगमणं॥२०९८९२००॥३३॥
सुण्णदुगं वाणवदी अडणवदीसुण्ण दोविकोडिपयं ।
इंदजालाइं जाणदि बहुभेयगइं इंदजालुत्ति ॥२०९८९२००॥३४॥
सुण्णदुगं वाणवदी अडणवदी सुण्ण दोविकोडिपयं ।
सिंहहरिणचित्तादीविज्ञपहावं च रूवगया॥२०९८९२००॥३५॥
सुण्णदुगं वाणवदी अडणवदी सुण्ण दोविकोडिपयं ।
आयासे गमणाणं सुतंतमंतादिगयणगया ॥२०९८९२००॥३६

छक्कं चदुणवचदुदहपदपरिमाणं तु सुण्णतयसहियं ।
एसो पंचपयारो चूलियणामे णमंसामि १०४९४६०००॥३७॥

(पंचप्रकारचूलिका कथिता ॥ छ ॥)

पणमामि जिणं वीरं जीवादीप्पायवयधुवाणं च ।
भणियव्वं कोडिपयं उप्पायपुव्वं णमंसामि॥१००००००॥३८

छाणवदी लक्खपयं अत्थो तह अग्गिभूसुयपरं ।
अग्गायणीयणामं भावविसुद्धिं णमंसामि ॥ ९६०००००॥३९॥

चक्कहरकेवलीणं सुरवइणाइंदपउरसत्तीओ ।
सत्तरीलक्खाइं पयं पडिवायइ वीरियपवादो ॥७००००००॥४०॥

दव्वं अणेयभेयं अत्थि अ णत्थित्ति धम्मसूयपरं ।
सट्ठीसयसहसपयं अत्थीणत्थीदिपुव्वोयं ॥ ६००००००॥ ४१ ॥

एऊणयकोडिपयं अडणाणपयारउदयहेऊणं ।
तह धरणकारणेविय भणंति णाणप्पवादोयं॥९९९९९९९॥४२॥

कोडिपयं अडअहियं कुंडुद्दयदिट्ठुणवरिसविसेसा ।
बेइंदियवयजोया भणंति सच्चप्पवादोयं ॥ १००००००८॥४३

जीवो णाणसुहादी कत्ताभुत्ताइधम्मसूययरो ।
छव्वीसं कोडिपयं पणवहं अप्पप्पवादोयं॥२६००००००॥४४॥

छहसुण्णं अट्ठइसं कम्मोदयबंधणिज्जरादीया ।
पदसंख्याइपरूवं वंदे कम्मप्पवादोवि ॥१८०००००० ॥ ४५॥

पच्चक्खाण णियत्ती दव्वं पज्जा णिरूविया जत्थ ।
चुलसीदीलक्खपयं पच्चक्खाणं णमंसामि॥८४०००००॥ ४६ ॥

अट्ठंगणिमित्तमहाखुद्दं विज्जाइं पंचसत्तसया ।
दहलक्खं कोडिपयं विज्जाणुवायं परूवंति॥११००००००॥४७॥

छव्वीसं सयसुण्णं तेसट्ठिसलाहपुरिसकल्लाणं ।
पदसंखा विण्णेया कल्लाणणामं परूवंति॥२६०००००००॥४८॥

तयदसकोडी य पयं पाणापण्णाणुवेदमंतो य ।
गारुडविज्जा भासइ पाणावायं णमंसामि ॥१३००००००००॥४९

णवकोडिपयपमाणं छंदोलंकारसकलविण्णाणं ।
भासइ अणेकविहं किरियविसालं णमंसामि ९००००००००॥५०

लोयग्गसारभूयं सिद्धिसुहुप्पायणे समत्थोयं ।
पंचघणं छहसुण्णं पणयव्वो लोयसारोयं॥१२५००००००॥५१॥

अट्ठुत्तरुसयकोडी अट्ठट्ठीलक्खसहसछप्पण्णा ।
पंचप्पयअहियाणं वारसमो दिट्ठिवादोयं॥१०८६८५६००५॥५२॥

पणअहियं सुण्णडुगं अडपणतयअडदुएयएयं च ।
वारसअंगाइसुदं णमियं महहेमचंदेण ॥११२८३५८००५॥५३॥

पणणवदीअहियसयं चउदहपुव्वाइं वत्थुपरिसंखा ।
एक्किक्कम्मि य वत्थू वीसं वीसं च पाहुडा भणिया ५४॥वस्तु१९५

वस्तुएकप्रतिपाहुड २० पाहुडसंख्या ३९०० पाहुड १ प्रतिपाहुड
जातप्रतिपाहुड ९३६०० प्रतिपाहुड १ प्रतिअनुयोगाः २९ जात
अनुयोगसंखा २२९६९०० अनुयोगपाहुडसंखा

पणरससोलसपणपण्णतिकिदिसुण्णसत्ततयसत्ता।
सुण्णं चदुचदुसगछहचदुचदुअडइगिसु अक्खरया॥ ५५॥

॥ १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५॥

सव्वसुयं अक्खरयं मज्झिमपदभाइयं हरेहु णियमेण।
पयसंखा सा जाणसु सेससुदं अंगबाहिरयं॥ ५६॥

१८४४६७४४०७३६२९४४३४४०॥

द्वादशानामंगानां सकलश्रुताक्षरसंख्याप्रमाणं।

अडअडसीदीसगणहतहतयअडचदुतय तहय सोलसया।
मज्झिमपदेसु अंका एसो भासंति तित्थयरा॥ ५७॥

१६३४८३०७८८८ मध्यमपदाक्षरसंख्या।

एकावण्णं कोडी लक्खा अट्ठेव सहसचुलसीदी।
सयछक्कं णायव्वं साढाइकवीसपयगंथा ५१०८८४६२१॥ ५८

मध्यमग्रंथप्रमाणं।

पण्णत्तरिसयसहियं अडदहसीदी मुणेहु अंककमो।
बाहिरसुदेसु अक्खर तं चउदह पयण्णयं णमामि॥ ५९॥

८०१०८१७५ अंगबाह्यश्रुतअक्षरसंख्या॥

अडतीसातिण्णिसयासहस्सपण्णासलक्खवे मुणहु।
पणदहअक्खरसहिया बाहिरसुदगंथया भणिया॥ ६०॥

ग्रंथ २५०३३८ अक्षर १५ अंगबाह्यश्रुताक्षरग्रंथप्रमाणं

उक्तं च—

सामाइयथुइवंदणपडिक्कमणं वेणइयकिदिकम्मं ।
कालियउत्तरज्झयणं कप्पं तह कप्पकप्पं च ॥ ६१ ॥

महकप्पं पुंडरियं महपुंडरियं असीदिया चेव ।
वंदे चउद्दसेदे अण्णोवि य अंगबज्झसुदे ॥ ६२ ॥

देसावहिछब्भेयं परमावहिसव्वअवहिचारिमतणुं ।
मणपज्जवसंजमिणं खाइखिए केवलं होदि ॥ ६३ ॥

दुसमसुसमावसाणो दुसमपएसेवि कालपारिमाणे ।
सुदकेवलिपरिवाडी आयण्णहु पयदचित्तेण ॥ ६४ ॥

आहुट्ठमासहीणे वासचउक्कंहि तुरियकालंते ।
कत्तियकिसण चउद्दसि वीरजिणो सिद्धिसंपत्तो ॥ ६५ ॥

केवलणाणुप्पण्णो तहि समए गोयमस्स गणवइणो ।
णिव्वाणं समएणं णाणो य सुधम्म जाणेहु ॥ ६६ ॥

अंतेसु जंबुसामी पंचमणाणी य तहय णिव्वाणो ।
वासट्ठि वरिसकालो अणुवट्ठिय तिण्णि केवलिणो ॥ ६७ ॥

वर्ष६२।अणयारअंतकेवलिसिरिहरजयणो सुसिद्धिअणुसरिआ
चारणमुणी य चरिमं वंदेह सुपासयं णाम ॥ ६८ ॥

वइरिजसणामधेओ पण्णयसवणाण चरिम जाणेहु ।
सिरिणामायहिणाणी अंतिल्लो तित्थ पणमिओ ॥ ६९ ॥

चरिमो मउडधरीसो णरवइणा चंदगुत्तणामाए ।
पंचमहव्वयगहिया अचरिरिक्साय ओछिण्णा ॥ ७० ॥

णंदी य णंदिमित्तो अवरज्जिउ पुणु गुवड्ढणो णामो ।
पंचमउ भद्दबाहो पुव्वंगधरा णमंसामि ॥ ७१ ॥

वाससयं तह कालो परिगलिओ वड्ढमाणतित्थेसु ।
एसो भवियं जाणह भरहे सुदकेवली णत्थि ॥ ७२ ॥

{ वर्ष १०० वर्द्धमाने निर्वाणे गते सति पश्चात् श्रुतकेवली न संजातः }

विसाहणामो पढमो पोटिल्लो जयउखत्तिओ णागो ।
सिद्धत्थो धिदसेणो विजओ णवमो य बुद्धिल्लो ॥ ७३ ॥
गंगो सुधम्मुणामो एयारसमुणि जयम्मि विक्खाया ।
तेसीदिसयं वासं कालो दसपुव्वधर णेया ॥ ७४ ॥ वर्ष १८३।
णरवत्तो जयपालो पुंडरिउ धुवसेणु कुंसणामा य ।
एयारसअंगधरा वासं वीसहियविण्णिसया ॥७५॥ वर्ष २२०॥
मुणिपुंगवो सुभद्दो पुणु जसभद्दो तहेव जसवाहो ।
लोहो णाम अलोहो पढमंगधराविं चत्तारि ॥ ७६ ॥
विणयधरो सिरिदत्तो सिवदत्तो अवुहदत्त मुणिवसहः ।
अंगं पुव्वं मज्झे देसधरा चारि जाणेह ॥ ७७ ॥
अट्ठदसं अहियाणं वाससयं तहय कालवोलीणो ।
अवसप्पइ सुदपवरा अंगधरा भरहे वुच्छिण्णा ॥ ७८ ॥
वर्ष ११८। गुत्तिमयं लेसाणं वासाणं परगलियमित्तमावी य ।
देसूणय देसधरा मुणिअरुहाभणियणामा य ॥७९॥ वर्षाः ६८३
आयरिउ भद्दवाहो अट्ठंगमहणिमित्तजाणयरो ।
णिण्णासइ कालवसेसचरिमो हु णिमित्तिओ होदि ॥ ८० ॥
उज्जिंते गिरिसिहरे धरसेणो धरइ वयसमिदिगुत्ती ।
चंदगुहाइणिवासी भवियहु तसु णमहु पयजुयलं ॥ ८१ ॥
अग्गायणीयणामं पंचमवत्थुगदकम्मपाहुडया ।
पयडिट्ठिदिअणुभागो जाणंति पदेसबंधोवि ॥ ८२ ॥

जं जाणेइ सुदंतं विहुभुयवलि पुप्फयंतणामजई ।
धरसेण हु अवसाणे सुददेसधरा य विण्णि मुणी ॥ ८३ ॥
गुणजीवादिपरूवण खुद्दयसामित्तबंधणामाय ।
वेयसवग्गणखंडा छट्ठो महबंधु जाणेह ॥ ८४ ॥
एवं छह अहियारा तीससहस्साणुसुत्तेरहिया ।
अप्पमई होंति णरा तो पुच्छय लेहिओ गंथो ॥ ८५ ॥
भूयवलिपुप्फयंतो चउविहसंघेण संजुदो तत्थ ।
जिट्ठसियपंचमिदिणे पुत्थयपडिठावणा विहिया ॥ ८६ ॥
अट्ठविहा कयपूया तद्दिणि सुयपंचमीदि संजादा ।
सुदविणएणं लब्भइ अचलंपि केवलं णाणं ॥ ८७ ॥
सदरीसहस्स धवलो जयधवलो सट्ठिसहसबोधव्वो ।
महबंधो चालीसं सिद्धंततयं अहं वंदे ॥ ८८ ॥
रइओ तिलंगदेसे आरामे कुंडणयरिसुपसिद्धे ।
चंदप्पहजिणिमंदिरि रइया गाहा इमे विमला ॥ ८९ ॥
मयरद्धयमहमहणो मायामयमोहमयणपरिहरणो ।
चंदप्पहु जिणणाहो देउ सुहं सयलसंघस्स ॥ ९० ॥
जयउ जयसयवंतो जयजयसद्देण असुरसुरणमिओ ।
चंदप्पहुजिणणाहो सुहपरिणामं महं देउ ॥ ९१ ॥
सिद्धंतिरामणंदी महापसाएण रयउ सुरबंधो ।
लइओ संसारफलो देसजई हेमचंदेण ॥ ९२ ॥
अक्खरमत्ताहीणं जं अत्थविवज्जियं मया भणियं ।
तं खमउ वीयराओ मम पुणु कम्मक्खयं होउ ॥ ९३ ॥
जो पढइ सुणइ गाहा अत्थे जाणेइ कुणइ सद्दहणं ।
आसण्णभव्वजीओ सो पावइ परमणिव्वाणं ॥ ९४ ॥

इतिश्रीब्रह्महेमचंद्रविरचितः श्रुतस्कंधः समाप्तः

अज्ञातनामकाष्ठासंघमुक्ताचार्यकृता

द्वादसी गाथा ।

बुढति पलालहरं जह माणुसजम्मस्स पाणियं दिण्णं ।
जीवा जेहिं ण णाया णाऊण ण रक्खिया जेहिं ॥ १ ॥

ब्रुडति पलालहतं यथा मानुषजन्मने पानीयं दत्तं ।
जीवा यैर्न ज्ञाता ज्ञात्वा न रक्षिता यैः ॥ १ ॥

वियलिंदिय पंचिंदिय समणा अमणा य पज्जपज्जत्ता ।
थावरबायरसुहमा मणवयकाएण रक्खिव्वा ॥ २ ॥

विकलेन्द्रियाः पंचेद्रियाः समनस्कामनस्काश्च पर्याप्ताऽपर्याप्ताः ।
स्थावरवादरसूक्ष्माः मनोवचस्कायैः रक्षणीयाः ॥ २ ॥

अट्ठविहधाउणिच्चेयरचउवियलसण्णिसणीणं ।
सुपइट्ठिय अपइट्ठिय तिहु गुणिया जीव सगवण्णा ॥ ३ ॥

अष्टविधधातुनित्येतरचतुर्विकलसंज्ञ्यसंज्ञिनां ।
सुप्रतिष्ठितं अप्रतिष्ठितं त्रिभिः गुणिता जीवाः सप्तपंचाशत् ॥ ३ ॥

थावर बेयालीसा दो सुर दो णरय तिरिय चउतीसा ।
णव वियले णव मणुए अडणवदी जीवठाणाणि ॥ ४ ॥

स्थावरा द्वाचत्वारिंशत् द्वौ सुरौ द्वौ नारकौ तिर्यचः चतुस्त्रिंशत् ।
नव विकले नव मनुष्ये अष्टानवतिः जीवस्थानानि ॥ ४ ॥

काए हिंसा तुच्छा वयणे बहवा मणेण अइबहवा ।
तह्मा मणस्स रोहं करंति जे सूरि ते धण्णा ॥ ५ ॥

काये हिंसा तुच्छा वचने बहुला मनसाऽतो बहुला ।
तस्मान्मनसो रोधं कुर्वन्ति ये सूरिणस्ते धन्याः ॥ ५ ॥

मणरोहेण य सवणे काएवाए ण तेरिसा हिंसा ।
मणहट्ठो अइहिंसो अहिंसवो होदि रुद्धमणो ॥ ६ ॥

मनोरोधेन च श्रमणे कायवाग्भ्यां न तादृशा हिंसा ।
मनोहठः अतिहिंस्रः अहिंसको भवति रुद्धमनाः ॥ ६ ॥

मणरोहेण य रुद्धं करणसुहं सुहविणो य णिग्गंथो ।
णिग्गंथो अकसाओ अकसाओ हिंसओ णत्थि ॥ ७ ॥

मनोरोधेन च रुद्धं करणसुखं सुखवान् च निर्ग्रन्थः ।
निर्ग्रन्थः अकषायः अकषायः हिंसको नास्ति ॥ ७ ॥

रक्खंतोवि ण रक्खइ सकसाओ जइवि जइवरो होई ।
मारंतोपि अहिंसो कसायरहिओ ण संदेहो ॥ ८ ॥

रक्षन्नपि न रक्षति सकषायो यद्यपि यतिवरो भवति ।
मारन्नपि अहिंसः कषायरहितो न संदेहः ॥ ८ ॥

बलिया हुंति कसाया छुड्ड छड्डिय जइवरेण तिविहेण ।
ता होउ कट्ठमूलो अहिंसओ णिच्छओ जाऊ ॥ ९ ॥

बलिष्ठा भवंति कषायाः स्थूल त्यक्त्वा यतिवरेण त्रिविधेन ।
ततो भवतु काष्ठमूलः अहिंसको नित्यो जातु ॥ ९ ॥

छुड्डुहिंसा ण पयट्टइंता जीवो होदि कारणे लग्गो ।
चिंतंतो कच्छगइ पावइ कच्छं ण संदेहो ॥ १० ॥

स्थूलहिंसा न   जीवो भवति कारणे लग्नः ।
चिंतयन् कृच्छ्रगतिं प्राप्नोति कष्टं न संदेहः ॥ १० ॥

कारणु कज्ज वियाणहु सालंबो चेव जो णिरालंबो ।
णिच्छयववहारेण य जाणेण य होइ सम्मत्तं ॥ ११ ॥

कारणं कार्यं विजानीहि सालंबः चैव यः निरालंबः ।
निश्चयव्यवहारेण च ज्ञानेन च भवति सम्यक्त्वं ॥ ११ ॥

अरहंता जे सिद्धा तहिंमि पडिबिंब अच्छि भुवणयले ।
ते सालंब वियाणवि सालंबे ठवहि अप्पाणं ॥ १२ ॥

अर्हंतो ये सिद्धाः तेषां प्रतिबिंबानि संति भुवनतले ।
तानि सालंबानि विजानीहि सालंबे स्थापय आत्मानं ॥ १२ ॥

मणिरयणधाउलेवा सिलकट्ठमयघडिय पुण्णवंतेहिं।
सालंवझणामित्तं पयट्टिया तेहिं भव्वेहिं ॥ १३ ॥

मणिरत्नधातुलेपा शिलाकाष्ठमयघाटिताः पुण्यवद्भिः।
सालंबध्याननिमित्तं प्रतिष्ठिताः तैः भव्यैः ॥ १३ ॥

पढममालंवेण य पच्छादो भावणा णिरालंवे।
थूलं च कदब्भासो मुहु संझाइज्ज लीलाए ॥ १४ ॥

प्रथममालंबेन च पश्चात् भावना निरालंबे।
स्थूलं च कृताभ्यासः मुहुः संध्यायति लीलया ॥ १४ ॥

कट्ठो वि मूलसंघो रहिओ सालंबकारणं लहइ।
अप्पणिरालंवेण य झाणेण य पावए कज्जं ॥ १५ ॥

काष्ठोपि मूलसंघो रहितः सालंबकारणं लभते।
आत्मनिरालंबेन च ध्यानेन च प्राप्नोति कार्यं ॥ १५ ॥

जीवो जो ण कसाओ अहिंसओ सो जि तासु सम्मत्तो।
समभावेण य थक्को सो झाणे लहइ कज्जोवि ॥ १६ ॥

जीवो यो न कषायः अहिंसकः स एव तस्मिन् सम्यक्त्वं।
समभावेन च तिष्ठन् स ध्याने लभते कार्यमपि ॥ १६ ॥

परमिट्ठी झायंतो ता जीवो हवंदि कारणे लग्गो।
कारणुकज्जोप्पत्ती सालंबं कारणं जाणि ॥ १७ ॥

परमेष्ठिनं ध्यायन् तदा जीवो भवति कारणे लग्नः।
कारणकार्योत्पत्तिः सालंबं कारणं जानीहि ॥ १७ ॥

कज्जं अप्पंझाणं कारणु झाणुत्ति पंचपरमेट्ठी।
कारण पण्णवि लग्गो कज्जो सिद्धोवमो जीवो ॥ १८ ॥

कार्यं आत्मध्यानं कारणं ध्यानमिति पंचपरमेष्ठिनां।
कारणं पंचस्वपि लग्नः कार्यं सिद्धोपमो जीवः ॥ १८ ॥

ता कज्जे लहु लग्गहु अप्पा झाएहु जो णिरालंबो।
अह कट्ठो अह मूलो संकप्पवियप्पयं मुयहं ॥ १९ ॥

ततः कार्यं लघु लगतु आत्मानं ध्यायतु यः निरालंबः ।
अथ काष्ठो अथ मूलः संकल्पविकल्पकं त्यजत ॥ १९ ॥

संघो कोवि ण तारइ कट्ठो मूलो तहेव णिप्पिच्छो ।
अप्पा तारइ अप्पा तह्मा अप्पा वि झाएहि ॥ २० ॥

संघः कोपि न तारयति काष्ठो मूलः तथैव निःपिच्छः ।
आत्मा तारयति आत्मानं तस्मात् आत्मानं अपि ध्यायत ॥ २० ॥

अप्पाझाणेण फुडं सिद्धा अरुहाइ सयलकेवलिणो ।
तं झायहु अविलंवहु मणिरोहो करिवि णियमेण ॥ २१ ॥

आत्मध्यानेन स्फुटं सिद्धा अर्हतः सकलकेवलिनः ।
तं ध्यायत अविलम्बं मनोरोधः कृत्वा नियमेन ॥ २१ ॥

अरहंतो अ समत्थो तारण लोयाण दीहसंसारे ।
मग्गुद्देसणकुसलो तरंजमग्गलग्गथर ॥ २२ ॥

अर्हन् च समर्थः तारणे लोकानां दीर्घसंसारे ।
मार्गोद्देशनकुशलः तरंड .... ॥ २२ ॥

पिच्छहु अरुहुद्देवो पच्छरघाडिऊवि दरिसए मग्गो ।
आसणझाणट्ठाणे अप्पा आराहणं कुणंतोवि ॥ २३ ॥

पृच्छतु अर्हद्देवः प्रस्तरघाटितोपि दर्शयेत् मार्गं ।
आसनध्यानस्थाने आत्मा आराधनां कुर्वन्नपि ॥ २३ ॥

गुरुदेवतच्चकारणु अकला जे जीव इत्थ संसारे ।
जाहिं कला अप्पाणे ताहंपि परेण किं कज्जं ॥ २४ ॥

गुरुदेवतत्त्वकारणं अकला ये जीवा अत्र संसारे ।
येषां कला आत्मने तेषामपि परेण किं कार्यं ॥ २४ ॥

आयमपुराणचरिया पाहुडसिद्धंतसारअणुलग्गा ।
तह जह झायइं अप्पा तरंति भवसायरे णूणं ॥ २५ ॥

आगमपुराणचरितप्राभृतसिद्धांतसारानुलग्नाः ।
तथा यथा ध्यायंति आत्मानं तरंति भवसागरे नूनं ॥ २५ ॥

सुपढंतु पाढयन्तु य आगम वक्खाणयंतु णिसुणंतु ।
जाम ण सुद्धं झाणं ता जीवो ण कंमु विणडेइ ॥ २६ ॥

सुपठंतु पाठयंतु च आगमं व्याख्यायतां निश्रृण्वंतु ।
यावत् न शुद्धं ध्यानं तावत् जीवो न कर्म विनाशयति ॥ २६ ॥

तारणमल्लो अप्पा पररहिओ णिम्मलो व सुसहावो ।
दंसणणाणसवण्णो झायंतो णिव्वुई लहइ ॥ २७ ॥

तारणमल्लः आत्मा पररहितः निर्मलः वा सुस्वभावः ।
दर्शनज्ञानसंपन्नो ध्यायन् निर्वृतिं लभते ॥ २७ ॥

पिच्छे ण हु सम्मत्तं करगहिए चमरमोरडंवरए ।
समभावे जिण दिट्ठं रायाईदोसचत्तेण ॥ २८ ॥

पिच्छे न खलु सम्यक्त्वं करगृहीते चमरमयूरडंबरे ।
समभावे जिनेन दृष्टं रागादिदोषत्यक्तेन ॥ २८ ॥

रायाइदोसरहिया णिच्छयलग्गा च एवि ववहारे ।
अज्जवि अप्पाझाणे वीयभवे लहहि परमप्पा ॥ २९ ॥

रागादिदोषरहिता निश्चयलग्नाः च येपि व्यवहारे ।
अद्यापि आत्मध्यानेन द्वितीयभवे लभते परमात्मानं ॥ २९ ॥

ववहारेण य लग्गा पुण्णं पावेवि लहहिं सुरसुक्खं ।
इंदियसुह पडिलग्गा अणंतसंसारिया जीवा ॥ ३० ॥

व्यवहारेण च लग्नाः पुण्यं प्राप्य लभंते सुरसौख्यं ।
इंद्रियसुखं प्रतिलग्नाः अनंतसांसारिका जीवाः ॥ ३० ॥

णरसुर भुंजिवि सुक्खं दुक्खं तिरियंचणरयणिगोदं ।
पुण्णस्सय पावफलं इंदियसुह लद्धए जीवो ॥ ३१ ॥

नरसुरयोः भुंक्त्वा सुखं दुःखं तिर्यक्नरकनिगोदं ।
पुण्यस्य पापफलं इंद्रियसुखं लभते जीवः ॥ ३१ ॥

पुण्णेण किं पि कज्जं पावे पुणु णत्थि किंपि कज्जं च ।
कारणसुहदुक्खयरी अलद्धफलं देहि तं देव ॥ ३२ ॥

पुण्येन किमपि कार्यं पापेन पुनः नास्ति किमपि कार्यं च ।
कारणसुखदुःखकारी अलब्धफलं ददाति तं देवः ॥ ३२ ॥

तं लइ गुरुउवएसो गयसंगो भूरिमणणिरोहेण ।
अब्भस्स परमपुरिसो गयणमिव रूवरहियं च ॥ ३३ ॥
तल्लभ्यतां गुरूपदेशः गतसंगः भूरिमनोनिरोधेन ।
अभ्यसत परमपुरुषं गगनमिव रूपरहितं च ॥ ३३ ॥
झायहु सुद्धो अप्पा परहं विमुक्को सुणिम्मलो संतो ।
वियलंति कम्ममलया हलुत्तरणमऊ जीवो ॥ ३४ ॥
ध्यायतां शुद्धः आत्मा परैः विमुक्तः सुनिर्मलः सन् ।
विगलंति कर्ममलानि..........जीवः ॥ ३४ ॥
जह आलाऊ णीरे अच्छइ वुड्डोपि अट्ठमलहारो ।
तह जीवो सुवियाणहु कम्ममलालेवियाटुंति ॥ ३५ ॥
यथा अलाबुः नीरे आस्ते बुडितोपि अष्टमलहारः ।
तथा जीवः सुविजानातु कर्ममलालेपिता आसते ॥ ३५ ॥
जह जह गलंति कम्मं तह तह संतराति जेम आलाऊ ।
झाणजलेण य गलियाकम्ममला जे सवोत्तरइ ॥ ३६ ॥
यथा यथा गलंति कर्माणि तथा तथा संतरान्ति यथा अलाबुः ।
ध्यानजलेन च गलितकर्ममला ये सर्वे उत्तरंति ॥ ३६ ॥
छत्तीसागाहाए जो पढइ सुणेइ भत्तिसारेण ।
सो णरु जाणइ बंधो मोक्खो पुणु णाणमउ होदि ॥ ३७ ॥
षट्त्रिंशद्गाथा यः पठति श्रुणोति भक्तिसारेण ।
सः नरः जानाति बन्धं मोक्षं पुनः ज्ञानमयो भवति ॥ ३७ ॥
जो जाणइ अरहंतो दव्वत्थगुणत्थपज्जयत्थहिं ।
सो जाणइ अप्पाणं मोहो खलु जाइ तस्स लयं ॥ ३८ ॥
यः जानाति अर्हंतं द्रव्यार्थगुणार्थपर्यायार्थैः ।
सः जानाति आत्मानं मोहः खलु तस्य याति लयम् ॥ ३८ ॥

इति द्वादसी गाथा समाप्ता ॥

श्रीपद्मसिंहमुनिकृतः

ज्ञानसारः ।

सिरिवड्ढमाणसामी सिरसा णमिऊण कम्मणिड्डहणं ।
वोच्छामि णाणसारं जह भणियं पुव्वसूरीहिं ॥ १ ॥

श्रीवर्द्धमानस्वामिनं शिरसा नत्वा कर्मनिर्दहनं ।
वक्ष्यामि ज्ञानसारं यथा भणितं पूर्वसूरिभिः ॥ १ ॥

जीवो कम्मणिबद्धो चउगइसंसारसायरे घोरे ।
बुड्ढई दुक्खक्कंतो अलहंतो णाणबोहित्थं ॥ २ ॥

जीवः कर्म्मनिबद्धः चतुर्गतिसंसारसागरे घोरे ।
ब्रुडति दुःखाक्रान्तो अलभमानः ज्ञानबोधित्वम् ॥ २ ॥

णाणं जिणेहि भणियं फुडत्थवाईहि विगयलेवेहिं ।
तं विय णिस्संदेहं णायव्वं गुरुपसाएण ॥ ३ ॥

ज्ञानं जिनैः भणितं स्फुटार्थवादिभिः विगतलेपैः ।
तदेव निस्संदेहं ज्ञातव्यं गुरुप्रसादेन ॥ ३ ॥

कंदप्पदप्पदलणो डंभविहीणो विमुक्कवावारो ।
उग्गतवदित्तगत्तो जोई विण्णाय परमत्थो ॥ ४ ॥

कंदर्पदर्पदलनो दंभविहीनो विमुक्तव्यापारः ।
उग्रतपोदीप्तगात्रः योगी विज्ञेयः परमार्थः ॥ ४ ॥

पंचमहव्वयकलिओ मयमहणो कोहलोहभयचत्तो ।
एसो गुरुत्ति भण्णइ तम्हा जाणेह उवएसं ॥ ५ ॥

पंचमहाव्रतकलितो मदमथनः क्रोधलोभभयत्यक्तः ।
एष गुरुरिति भण्यते तस्मात् जानीहि उपदेशं ॥ ५ ॥

पत्तोवएससारो जोई जइ णवि जिणेइ णियचित्तं ।
तो तस्स ण थाइ थिरं झाणं मरुपहयपत्तंव ॥ ६ ॥
आप्तोपदेशसारः योगी यदि नैव जयति निजचित्तं ।
तदा तस्य न स्थीयते स्थिरं ध्यानं मरुत्प्रहतपत्रमिव ॥ ६ ॥
झाणेण विणा जोई असमत्थो होइ कम्मणिड्डहणे ।
दाढाणहरविहीणो जह सीहो वरगयंदाणं ॥ ७ ॥
ध्यानेन विना योगी असमर्थो भवति कर्मनिर्दहने ।
दंष्ट्रानखरविहीनो यथा सिंहो वरगजेंद्राणां ॥ ७ ॥
तम्हा तडिव्वचवलं णियचित्तं जोइणा जिणेयव्वं ।
जियचित्तं णियझाणं होइ थिरं बद्धसलिलंव ॥ ८ ॥
तस्मात् तडिद्वत् चपलं निजचित्तं योगिना जेतव्यं ।
जितचित्तं निजध्यानं भवति स्थिरं बद्धसलिलमिव ॥ ८ ॥
गिरिकंदरविवरसिलासयेसु मढमंदिरेसु सुण्णेसु ।
णिद्दंसमसयणिज्जणठाणेसु झाणमब्भसह ॥ ९ ॥
गिरिकंदराविवरशिलाशयेषु मठमंदिरेषु शून्येषु ।
निर्दंशमशकनिर्जनस्थानेसु ध्यानमभ्यसत ॥ ९ ॥
झाणं चउप्पयारं भणंति वरजोइणो जियकसाया ।
अट्टं तह य रउद्दं धम्मं तह सुक्कझाणं च ॥ १० ॥
ध्यानं चतुःप्रकारं भणंति वरयोगिनः जितकषायाः ।
आर्तं तथा च रौद्रं धर्मं तथा शुक्लध्यानं च ॥ १० ॥
तंबोलकुसमलेवणभूसणपियपुत्तचिंतणं अट्टं ।
बंधणडहणवियारणमारणचिंता रउद्दंमि ॥ ११ ॥
तांबूलकुसुमलेपनभूषणप्रियपुत्रचिंतनं आर्तं ।
बंधनदहनविदारणमारणचिंता रौद्रे ॥ ११ ॥
सुत्तत्थमग्गणाणं महव्वयाणं च भावणा धम्मं ।
गयसंकप्पवियप्पं सुक्कज्झाणा मुणेयव्वं ॥ १२ ॥

सूत्रार्थमार्गणानां महाव्रतानां च भावना धर्मे।
गतसंकल्पविकल्पं शुक्लध्यानं मंतव्यं॥ १२॥
तिरियगई अट्टेण णरयगई तह रउद्दझाणेण।
देवगई धम्मेणं सिवगइ तह सुक्कझाणेण॥ १३॥
तिर्यग्गतिः आर्तेन नरकगतिः तथा रौद्रध्यानेन।
देवगतिः धर्मेण शिवगतिस्तथा शुक्लध्यानेन॥ १३॥
अट्टरउद्दं झाणं तिरिक्खणारयदुक्खसयकरणं।
चइऊण कुणह धम्मं सुक्कज्झाणं च किं बहुणा॥ १४॥
आर्तरौद्रं ध्यानं तिर्यग्नारकदुःखशतकरणं।
त्यक्त्वा कुरु धर्मं शुक्लध्यानं च किंबहुना॥ १४॥
सामाइयं जिणुत्तं पढमं काऊण परमभत्तीए।
चिंतह धम्मह्झाणं गलइ मलं जेण सहसत्ति॥ १५॥
सामायिकं जिनोक्तं प्रथमं कृत्वा परमभक्त्या।
चिंतय धर्मध्यानं गलति मलं येन सहसा इति॥ १५॥
सुत्तत्थधम्ममग्गणवयगुत्तीसमिदिभावणाईणं।
जं कीरइ चिंतवणं धम्मज्झाणं च इह भणियं॥ १६॥
सूत्रस्थधर्ममार्गणव्रतगुप्तिसमितिभावनादीनां।
यत् क्रियते चिंतवनं धर्मध्यानं च इह भणितं॥ १६॥
जीवाइ जे पयत्था कायव्वा ते जहट्ठिया चेव।
धम्मज्झाणं भणियं रायद्दोसे पमुत्तूणं॥ १७॥
जीवादयो ये पदार्था ध्यातव्याः ते यथास्थिताः चैव।
धर्मध्यानं भणितं रागद्वेषौ प्रमुच्य॥ १७॥
झाएह तिप्पयारं अरुहं कम्मिंधणाण णिद्दहणं।
पिंडत्थं च पयत्थं रूवत्थं गुरुपसाएण॥ १८॥
ध्यायत त्रिप्रकारं अर्हं कर्म्मेंधनानां निर्दहनं।
पिंडस्थं च पदस्थं रूपस्थं गुरुप्रसादेन॥ १८॥

णियणाहिकमलमज्झे परिट्ठियं विप्फुरंतरवितेयं ।
झाएह अरुहरूवं झाणं तं मुणह पिंडत्थं ॥ १९ ॥
निजनाभिकमलमध्ये परिस्थितं विस्फुरद्रवितेजः ।
ध्यायते अर्हद्रूपं ध्यानं तत् मन्यस्व पिंडस्थं ॥ १९ ॥
झायह णियकुरमज्झे भालयले हिययकंठदेसम्मि ।
जिणरूवं रवितेयं पिंडत्थं मुणह झाणमिणं ॥ २० ॥
ध्यायत निजकुरमध्ये भालतले हृदयकंठदेशे ।
जिनरूपं रवितेजः पिंडस्थं मन्यस्व ध्यानमिदं ॥ २० ॥
अट्ठमवग्गचउत्थं सत्तमवग्गस्स वीयवण्णेण ।
अक्कंतमुवरि सुण्णं सुसंयुयं मुणह तं तच्चं ॥ २१ ॥
अष्टमवर्गचतुर्थं सप्तमवर्गस्य द्वितीयवर्णेन ।
आक्रांतमुपरि शून्यं सुसंयुतं मन्यस्व तत्त्वं ॥ २१ ॥
एयं च पंच सत्तय पणतीसा जहकमेण सियवण्णा ।
झायह पयत्थझाणं उवइट्ठं जोयजुत्तेहिं ॥ २२ ॥
एकं च पंच सप्त पंचत्रिंशत् यथाक्रमेण सितवर्णाः ।
ध्यायत पदस्थध्यानं उपदिष्टं योगयुक्तैः ॥ २२ ॥
मुणिसंखा पंचगुणा खणवाई तह य पवणगयणंता ।
एदे य धवलवण्णा कायव्वा झाणमग्गेण ॥ २३ ॥
मुनिसंख्या पंचगुणा.........तथा च पवनगतानंताः ।
एते च धवलवर्णा धातव्याः ध्यानमार्गेण ॥ २३ ॥
णिसिऊण पंचवण्णा पंचसु कमलेसु पंचठाणेसु ।
झाएह जहकमेणं पयत्थझाणं इमं भणियं ॥ २४ ॥
निश्रुत्वा पंचवर्णान् पंचसु कमलेसु पंचस्थानेषु ।
ध्यायत यथाक्रमेण पदस्थध्यानं इदं भाणितं ॥ २४ ॥
सत्तक्खरं च मंतं सत्तसु ठाणेसु णिससुसयवण्णं ।
सिद्धसरूपं च सिरे एयं च पयत्थझाणुत्ति ॥ २५ ॥

सप्ताक्षरं च मंत्रं सप्तसु स्थानेषु... ।
सिद्धस्वरूपं शिरसि एतच्च पदस्थध्यानमिति ॥ २५ ॥

अट्ठदलकमलमज्झे अरुहं वेढेह परमवीयेहिं ।
पत्तेसु तहय वण्णा दलंतरे सत्तवण्णा य ॥ २६ ॥

अष्टदलकमलमध्ये अर्हं वेष्टय परमबीजैः ।
पत्रेषु तथा च वर्णा दलांतरे सप्तवर्णाश्च ॥ २६ ॥

गणहरवलयेण पुणो मायावीएण धरयलक्कंतं ।
जं जं इच्छइ कम्मं सिज्झइ तं तं खणद्धेण ॥ २७ ॥

गणधरवलयेन पुनः मायाबीजेन धरातलाक्रांतं ।
यद्यत् इच्छति कर्म सिध्यति तत्तत् क्षणार्धेन ॥ २७ ॥

घणघायिकम्ममहणो अइसइवरपाडिहेरसंयुत्तो ।
झाएह धवलवण्णो अरहंतो समवसरणत्थो ॥ २८ ॥

घनधातिकर्ममथनः अतिशयवरप्रतिहार्यसंयुक्तः ।
ध्यायत धवलवर्णो अरहंतो समवसरणस्थः ॥ २८ ॥

अप्पा तिविहपयारो बहिरप्पा अंतरप्प परमप्पा ।
जाणह ताण सरूवं गुरुउवदेसेण किंबहुणा ॥ २९ ॥

आत्मा त्रिविधप्रकारो बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मा ।
जानीहि तेषां स्वरूपं गुरूपदेशेन किंबहुना ॥ २९ ॥

मयमोहमाणसहिओ रायद्दोसेहिं णिच्च संतत्तो ।
विसएसु तहा गिद्धो बहिरप्पा भण्णए एसो ॥ ३० ॥

मदमोहमानसहितः रागद्वेषैः नित्यं संतप्तः ।
विषयेषु तथा गृद्धः बहिरात्मा भण्यते एषः ॥ ३० ॥

धम्मज्झाणं झायदि दंसणणाणेसु परिणदो णिच्चं ।
सो भणइ अंतरप्पा लक्खिज्जइ णाणवंतेहिं ॥ ३१ ॥

धर्मध्यानं ध्यायति दर्शनज्ञानयोः परिणतः नित्यं ।
सः भण्यते अंतरात्मा लक्ष्यते ज्ञानवद्भिः ॥ ३१ ॥

दुविहो तह परमप्पा सयलो तह णिक्कलोत्ति णायव्वो ।
सयलो अरुहसरूवो सिद्धो पुणु णिक्कलो भणिओ ॥ ३२ ॥

द्विविधः तथा परमात्मा सकलः तथा निष्कल इति ज्ञातव्यः ।
सकलो अर्हत्स्वरूपः सिद्धः पुनः निष्कलः भणितः ॥ ३२ ॥

जरमरणजम्मरहिओ कम्मविहीणो विमुक्कवावारो ।
चउगइगमणागमणो णिरंजणो णिरुवमो सिद्धो ॥ ३३ ॥

जरामरणजन्मरहितः कर्मविहीनः विमुक्तव्यापारः ।
चतुर्गतिगमनागमनः निरंजनो निरुपमः सिद्धः ॥ ३३ ॥

परमट्ठगुणेहिं जुदो अणंतगुणभायणो णिरालंबो ।
णिच्छेओ णिब्भेओ अणंदिदो मुणह परमप्पा ॥ ३४ ॥

परमाष्टगुणैः युक्तः अनंतगुणभाजनः निरालंबः ।
निश्छेदः निर्भेदः आनंदितो मन्यस्व परमात्मा ॥ ३४ ॥

अप्पा दिणयरतेओ णाणमओ णाहिकमलमज्झत्थो ।
णिच्चिंतो णिद्दंदो झायव्वो झाणजुत्तीए ॥ ३५ ॥

आत्मा दिनकरतेजाः ज्ञानमयो नाभिकमलमध्यस्थः ।
निश्चिंतो निर्द्वंद्वः ध्यातव्यः ध्यानयुक्त्या ॥ ३५ ॥

पाहाणम्मि सुवण्णं कट्ठे अग्गी विणा पओएहिं ।
ण जहा दीसंति इमो झाणेण विणा तहा अप्पा ॥ ३६ ॥

पाषाणे सुवर्णं काष्ठे अग्निः विना प्रयोगैः ।
न यथा दृश्यंते इमानि ध्यानेन विना तथा आत्मा ॥ ३६ ॥

किं बहुणा सालंबं झाणं परमत्थएण णाऊणं ।
परिहरह कुणह पच्छा झाणब्भासं णिरालंबं ॥ ३७ ॥

किं बहुना सालंबं ध्यानं परमार्थेन ज्ञात्वा ।
परिहर कुरु पश्चात् ध्यानाभ्यासं निरालंबं ॥ ३७ ॥

जह पढमं तह विदियं तदियं णिस्सेणियव्व चडमाणो ।
। बह समुच्चठाणं तह जोई थूलदो सुण्णं ॥ ३८ ॥

यथा प्रथमं तथा द्वितीयं तृतीयं निश्रेणिकायां चटमानः ।
प्राप्नोति समुच्चस्थानं तथा योगी स्थूलतः शून्यं ॥ ३८ ॥

सुण्णज्झाणे णिरओ चइगयणिस्सेसकरणवावारो ।
परिरुद्धचित्तपसरो पावइ जोई परं ठाणं ॥ ३९ ॥

शून्यध्याने निरतः त्यक्तनिःशेषकरणव्यापारः ।
परिरुद्धचित्तप्रसरः प्राप्नोति योगी परं स्थानं ॥ ३९ ॥

सुण्णं च विविहभेयं भणियं अ बुहेहिं गयणमवियप्पं ।
तह दव्वपज्जभावं महद्दयारं च सिर रहियं ॥ ४० ॥

शून्यं च विविधभेदं भणितं च बुधैः गगनमविकल्पं ।
तथा द्रव्यपर्ययभावं........................॥ ४० ॥

रायाईहिं विमुक्कं गयमोहं तत्तपरिणदं णाणं ।
जिणसासणम्मि भणियं सुण्णं इय एरिसं मुणह ॥ ४१ ॥

रागादिभिः विमुक्तं गतमोहं तत्त्वपरिणतं ज्ञानं ।
जिनशासने भणितं शून्यं इदमीदृशं मनुत ॥ ४१ ॥

इंदियविसयादीदं अमंततंतं अधेयधारणयं ।
णहसारिसंपि ण गयणं तं सुण्णं केवलं णाणं ॥ ४२ ॥

इंद्रियविषयातीतं अमंत्रतंत्रं अध्येयधारणाकं ।
नभःसदृशमपि न गगनं तत् शून्यं केवलं ज्ञानं ॥ ४२ ॥

णाहं कस्सवि तणओ ण को वि मे अत्थि अहं च एगागी ।
इय सुण्णझाणणाणे लहेइ जोई परं ठाणं ॥ ४३ ॥

नाहं कस्यापि तनयः न कोपि मे आस्त अहं च एकाकी ।
इति शून्यध्यानज्ञाने लभते योगी परं स्थानं ॥ ४३ ॥

मणवयणकायमच्छरममत्ततणुधणकणाइ सुण्णोऽहं ।
इय सुण्णझाणजुत्तो णो लिप्पइ पुण्णपावेण ॥ ४४ ॥

मनवचनकायमत्सरममत्वतनुधनकनादिभिः शून्योहं ।
इति शून्यध्यानयुक्तः न लिप्यते पुण्यपापेन ॥ ४४ ॥

सुद्धप्पा तणुमाणो णाणी चेदणगुणोहमेकोऽहं ।
इय झायंतो जोई पावइ परमप्पयं ठाणं ॥ ४५ ॥

शुद्धात्मा तनुमात्रः ज्ञानी चेतनगुणः अहम् एकः अहं ।
इति ध्यायन् योगी प्राप्नोति परमात्मकं स्थानं ॥ ४५ ॥

भमिदे मणुवावारे भमंति भूयाइ तेसु रायादी ।
ताण विरामे विरमदि सुचिरं अप्पा सरूवम्मि ॥ ४६ ॥

भ्रांतेषु मनोव्यापारेषु भ्रमंति भूतानि तेषु रागादिषु ।
तेषां विरामे विरमाति सुचिरं आत्मस्वरूपे ॥ ४६ ॥

अब्भंतरा य किच्चा वहिरत्थसुहाइ कुणह सुण्णतणुं ।
णिच्चिंतो तह हंसो पुंसो पुणु केवली होई ॥ ४७ ॥

अभ्यंतरं च कृत्वा बहिरर्थसुखानि कुरु शून्यतनुं ।
निश्चिंतस्तथा हंसः पुरुषः पुनः केवली भवति ॥ ४७ ॥

जं परमप्पय तच्चं तमेव विसकामतत्तमिह भणियं ।
झाणविसेसेण पुणो णायव्वं गुरुपसाएण ॥ ४८ ॥

यत् परमात्मकं तत्त्वं तदेव विषकामतत्त्वमिह भणितं ।
ध्यानविशेषेण पुनः ज्ञातव्यं गुरुप्रसादेन ॥ ४८ ॥

कामंधो मयमत्तो इंदियलुद्धो सहावडोलाओ ।
जइ पुण तं पयडत्थं अक्खिवज्जइ तहिमि खुप्पेइ ॥ ४९ ॥

कामांधः मदमत्तः इंद्रियलब्धः स्वभावदोलातः ।
यदि पुनः तं प्रकृतार्थं......... ॥ ४९ ॥

अंतज्जोई कमलं विंदुं णादं च तहय चउभेयं ।
अण्णं चिय विण्णाणं सव्वं भवकारणं भणियं ॥ ५० ॥

अंतर्ज्योतिः कमलं विंदुर्नादं च तथा चतुर्भेदं ।
अन्यमपि विज्ञानं सर्वं भवकारणं भणितं ॥ ५० ॥

वयणियमसीलसंजमगुत्तीओ तह य धम्म रयणाइं ।
लब्भंति परमझाणे अण्णंचिय जं च दुलभयं ॥ ५१ ॥

व्रतनियमशीलसंयमगुप्तयः तथा च धर्मः रत्नानि ।
लभ्यंते परमध्यानेन अन्यदपि च यच्च दुर्लभं ॥ ५१ ॥

णासाजोई जीहा अदंसण पंच तिण्णि पयाई ।
घोसा सवणे सत्तय चंदाच्छिद्दंमि वह दिवहा ॥ ५२ ॥

नासाज्योतिः जिह्वा अदर्शनं पंच त्रीणि एकादि ।
घोषा श्रवणे सप्त......दश दिवसानि ॥ ५२ ॥

खिदिजलमरुहावि गयणं णाडीचक्कंमि पंच तत्ताइं ।
एक्कोक्कं चिय घडियं कमेण पवहंति उदयाओ ॥ ५३ ॥

क्षितिजलमरुदपि गगनं नाडीचक्रे पंच तत्त्वानि ।
एकैकमपि घटिकं क्रमेण प्रवहंति उदयात् ॥ ५३ ॥

उड्ढं वहदि य अग्गी अहो जलं तह तिरिच्छओ पवणो ।
मज्झपुडंमि य पुहई णहोवि सव्वंपि पूरंतो ॥ ५४ ॥

ऊर्ध्वं वहति च अग्निः अधो जलं तथा तिर्यक् पवनः ।
मध्यपुटे च पृथ्वी नभोपि सर्वमपि पूरयत् ॥ ५४ ॥

अग्गितियंगुलमाणो छंगुल पवणो य पुहइतच्चि उणो ।
चउवीसंगुलमाणो व वहइ सलिलं च तत्तम्मि ॥ ५५ ॥

अग्निः त्र्यंगुलमानः षडंगुलः पवनः च पृथ्वीतत्त्वं पुनः ।
चतुर्विंशांगुलमानः वा वहति सलिलं च तत्त्वे ॥ ५५ ॥

कंठुद्धेण हु सासो णाहीउड्ढंमि मुणह तह पवणो ।
जाणुद्धं तह पुहई सलिलं चिय पादउड्ढंति ॥ ५६ ॥

कंठोर्ध्वेन हि श्वासः नाभ्यूर्ध्वे मन्यस्व तथा पवनः ।
जानूर्ध्वं तथा पृथ्वी सलिलमपि पादोर्ध्वमिति ॥ ५६ ॥

अग्गि तिकोणो रत्तो किण्हो य पहंजणो तहा वित्तो ।
चउकोणं पिय पुहवी सेय जलं सुद्धचंदाभं ॥ ५७ ॥

अग्निः त्रिकोणः रक्तः कृष्णश्च प्रभंजनस्तथा वृत्तः ।
चतुष्कोणं अपि पृथ्वी श्वेतं जलं शुद्धचंद्राभं ॥ ५७ ॥

पुहई सलिलं च सुहं वामाणाडी य प्रवहणमाणमिणं ।
तेयं पवणं च णहं असुहाइ इमाइ तत्ताइं ॥ ५८ ॥

पृथ्वी सलिलं च शुभं वामानाडी च प्रवहमानमिदं ।
तेजः पवनश्च नभः अशुभानि इमानि तत्त्वानि ॥ ५८ ॥

इडपिंगलाण पवणं सीउण्हं तत्त परमयं णाओ ।
ये छीओण सुहमसुहं जीवियमरणं च जाणेह ॥ ५९ ॥

इडापिंगलयोः पवनः शीतोष्णः...........!
.........शुभमशुभं जीवितमरणं च जानाति ॥ ५९ ॥

तडिदंबुबिंदुतुल्लं जीविय तह जोव्वणं धणं धण्णं ।
णाऊणमिणं सव्वमथिरं परमप्पबुद्धीए ॥ ६० ॥

तडिदंबुबिंदुतुल्यं जीवनं तथा यौवनं धनधान्यं ।
ज्ञात्वा इदं सर्वं अस्थिरं परमात्मबुद्ध्या ॥ ६० ॥

णियमणपडिबोहत्थं परमसरूवस्स भावणणिमित्तं ।
सिरिपउमसिंहमुणिणा णिम्मवियं णाणसारमिणं ॥ ६१ ॥

निजमनःप्रतिबोधार्थं परमस्वरूपस्य भावनानिमित्तं ।
श्रीपद्मसिंहमुनिना निर्मापितं ज्ञानसारमिदं ॥ ६१ ॥

सिरिविक्कमस्स काले दशसयछासीजुयंमि वहमाणे ।
सावणसियणवमीए अंबयणयरम्मि कयमेयं ॥ ६२ ॥

श्रीविक्रमस्य काले दशशतषडशीतिजुते वहमाने ।
श्रावणसितनवम्यां अंवकनगरे कृतमेतत् ॥ ६२ ॥

परिमाणं च सिलोया चउहत्तरि हुंति णाणसारस्स ।
गाहाणं च तिसट्ठी सुललियबंधेण रइयाणं ॥ ६३ ॥

परिमाणेन च श्लोकाः चतुःसप्ततिः भवंति ज्ञानसारस्य ।
गाथानां च त्रिषष्ठी सुललितबंधेन रचितानाम् ॥ ६३ ॥

इति श्रीपद्मसिंहमुनिकृतो ज्ञानसारः ।

इति तत्त्वानुशासनादिसंग्रहः समाप्तः ।

निवेदन ।

यह ग्रन्थमाला स्वर्गीय दानवीर सेठ मानकचन्द हीराचन्दजीके स्मरणार्थ निकाली गई है । यह केवल प्राचीन जैनसाहित्यके उद्धारके लिए प्रकाशित की जाती है । प्रत्येक ग्रन्थका मूल्य ठीक लागतके बराबर रक्खा जाता है । इसके प्रत्येक ग्रन्थकी दस दस पाँच पाँच प्रतियाँ खरीदकर विद्वानोंको, पुस्तकालयोंको, जैनमन्दिरोंको धर्मार्थ बाँटना चाहिए । धर्मप्रभावनाके लिए इससे अच्छा और कोई काम नहीं हो सकता ।

अनगारधर्मामृत सटीक, नयचक्र, युक्त्यनुशासन सटीक, आदि कई ग्रन्थोंके छपानेका प्रबन्ध हो रहा है । सहायताकी आवश्यकता है ।

निवेदक,

नाथूराम प्रेमी

मंत्री ।